234.092
राय।ब्र।आ

उत्तर प्रदेश संस्कृत अकादमी, लखनऊ

पुस्तकालय

परिग्रहण क्रमाङ्क 1912

वर्गाङ्क 234.092

पुस्तकाङ्क शाम | ब्र | भा

आचार्य-त्रयी

शंकराचार्य, रामानुजाचार्य एवं बल्लभाचार्य
जीवन और दर्शन

•

ब्रह्मदेव राय, एम० ए०

•

प्रमिल प्रकाशन

१८९ ए/१, अलोपीबाग कालोनी

इलाहाबाद-६

ACHARYA TRAYI

by

Bramha Deo Rai

२३४.०९२
राय३कु)आ

प्रथम संस्करण : १९७९

द्वितीय संस्करण : १९८२

स्वत्वाधिकारी | लेखकाधीन

प्रकाशक | अनिल प्रकाशन
अलोपीबाग कालोनी
इलाहाबाद

मुद्रक | राष्ट्रीय मुद्रणालय
५, सम्मेलन मार्ग
इलाहाबाद-३

मूल्य | तीस रुपए मात्र

भूमिका

(प्रथम संस्करण की भूमिका)

भारतीय परतंत्रता के परिणाम स्वरूप इस देश का जो इतिहास हमारे समक्ष आया, वह वास्तविकता से भिन्न था। राजतंत्र के उतार चढ़ाव की घटनाओं को तो इस रूप में चित्रित किया ही जाता रहा है, जिससे यह परिभाषित हो कि भारतीय सामरिक और नैतिक दोनों ही प्रकार से पिछड़े रहे हैं। लेकिन आश्चर्यजनक बात तो यह है कि यहाँ की साहित्य, कला और निरन्तर प्रवाहित होती आई संस्कृति के साथ धार्मिक नव जागरण की भी सर्वथा उपेक्षा कर दी गई थी।

इस धर्मपरायण देश का इतिहास यहाँ प्राचीन काल से होते रहे धार्मिक आन्दोलनों से अप्रभावित नहीं रह सकता था, रहा भी नहीं। राजनीतिक स्तर पर अपमानित होते रहने पर भी सांस्कृतिक और धार्मिक जगत में हमारा अद्वितीय स्थान रहा है। इसका सारा श्रेय यहाँ जन्मे ऋषियों, सन्तों और महात्माओं एवं आध्यात्मिक महापुरुषों को है।

भारतीय सन्त और मनीषी अपने विचार, वाणी और कर्म से सदैव प्रेरणा के श्रोत और अद्वितीय रहे हैं, ऐसी हमारी मान्यता है। अपनी मान्यता को साकार रूप देने के लिए मैंने धार्मिक जगत के महान् सन्तों एवं आचार्यों की जीवनियाँ लिखीं।

'आचार्य-त्रयी' उसी श्रृंखला की एक कड़ी है। प्रस्तुत पुस्तक में शंकराचार्य, रामानुजाचार्य और वल्लभाचार्य की जीवनी के साथ इनके प्रतिपादित मत भी सम्मिलित किये गये हैं।

आज के सन्दर्भ में इन सन्तों की जीवनियों की उपयोगिता स्वयंसिद्ध है। अतः मुझे पूर्ण विश्वास है कि यह पुस्तक पाठकों को सन्तोष देने में उपयोगी होगी।

दिनांक, १५ अगस्त, १९७९ —ब्रह्मदेव राय

१८९ ए/१, अलोपीबाग कालोनी,
इलाहाबाद—६

संकेत

युगबोध और दर्शन	...	५
शंकराचार्य	...	१९
रामानुजाचार्य	...	६९
वल्लभाचार्य	...	१२३

युगबोध और दर्शन

धर्म मनुष्य जीवन का अविभाज्य अंग है। जिस प्रकार सामाजिक जीवन में कर्तव्य और अधिकार एक सिक्के के दो पहलू के समान हैं, उसी तरह का सम्बन्ध मानव जीवन और धर्म से है। प्रायः धर्म को धर्मशास्त्र अथवा कर्मकाण्ड से एकबारगी जोड़ देने की भूल करके हम धर्म की व्यापकता और इसके महत्व को समाप्त कर देते हैं। ईशा के पूर्व तथा इसके बाद की शताब्दियों में धर्म की जिस प्रकार की व्याख्या ऊभर कर हमारे सामने आई, वह कर्मकाण्डी अधिक और व्यापक कम थी। इसीलिए अनेक मत-मतान्तरों का आभिभाव होता रहा और वे एक दूसरे की काट-छाँट में लगे रहे।

आठवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में जब शंकराचार्य का जन्म हुआ, तब धार्मिक, सामाजिक और राजनीतिक दृष्टि से समाज छिन्न-भिन्न हो रहा था। प्रायः सभी प्रमुख धर्मों के आचार्यों द्वारा प्रतिपादित मर्यादायें उनके अपने-अपने समर्थकों द्वारा ही तोड़ी जा रहीं थी और सांस्कृतिक स्तर पर समाज अंधकारपूर्ण स्थिति की ओर तेजी से अग्रसर होता जा रहा था।

भारत ऋषि-मुनियों का देश रहा है। इस देश की सामाजिक और धार्मिक मान्यताओं के श्रोत वेद, पुराण और धार्मिक ग्रंथ हैं। यह सौभाग्य की बात है कि इनकी आधारशिला पर स्थापित भारतीय संस्कृति अमरबेल की भाँति अजर अमर रही है और अनेक आपात स्थितियों को वह सहन कर ले गई।

जिस प्रकार मनुष्य सामाजिक प्राणी है, उसी प्रकार वह धार्मिक प्राणी भी है। धार्मिक होने का तात्पर्य उसके द्वारा मान्य किसी विशेष पूजा-अर्चना पद्धति से नहीं, वरन् उसके संस्कारगत स्वभाव से है। उसमें सोचने समझने की शक्ति है और वह उचित-अनुचित का विचार रखता है। अपनी इसी विचार-शक्ति के कारण वह अन्य जीवों की अपेक्षा विशिष्ट और श्रेष्ठ है। उसमें स्थितियों से जूझने और उनसे होकर अपना मार्ग प्रशस्त करने की क्षमता है। अपने इसी विशिष्ट चरित्र के कारण आज का मानव आदिम जाति के लोगों से भिन्न है और उसकी संघर्षशील प्रवृत्ति और सफलता, समाज और संस्कृति

की पृष्ठभूमि है। इसी कारण व्यापक रूप में इसे स्वीकार किया गया है कि मानव द्वारा प्रकृति पर प्राप्त विजय की क्रमबद्ध कहानी ही संस्कृति हैं। मानव और प्रकृति के बीच सम्बन्धों के आधार बौद्धिक एवं भाव-प्रधान होते हैं। इनके सम्मिलित रूप से अध्ययन और विचार से संस्कृति और जीवन के सम्बन्धों का यथार्थ ज्ञान होता है।

भारतीय संस्कृति के निर्माण और विकास की कहानी शताब्दियों के विचार मंथन, संघर्ष ओर प्रयत्नों का प्रतिफलन है। चूंकि हमारे विचारों के श्रोत प्राचीन धार्मिक ग्रन्थ, वेद और पुराण हैं, इसलिए बौद्धिकता, नैतिकता और पवित्रता धराहर स्वरूप हमारे सामाजिक जीवन को प्राप्त हुई है। विचार, मन और वाणी की शुद्धता पर हमारे यहाँ विशेष बल दिया गया है। विश्व के अन्य भागों में जब सांस्कृतिक और सामाजिक स्तर पर अनेक परिवर्तन हुए, उनके सामाजिक-जीवन के साथ-साथ उनकी संस्कृति का भी पूर्णतः विनाश हुआ, किन्तु भारतीय संस्कृति अबाधगति से चलती रही। अतः हमारे लिए यह सोचना स्वाभाविक है कि सांस्कृतिक धरातल पर हम दूसरों से भिन्न हैं और विशुद्ध नैतिक विचारों पर आधारित भारतीय संस्कृति समुद्र की तरह गहरे धरातल और हिमालय की भाँति उच्च शिखर पर विराजमान है।

जब हम भारतीय संस्कृति की इस विशेषता पर विचार करते हैं, तब बरबस हमारा ध्यान अपने मनीषियों और आचार्यों की ओर जाता है, जिन्होंने अपने पावन विचारों और अथक परिश्रम से भारतीय संस्कृति की आधार शिला रखी।

ख्यातिनामा प्राच्यविद् मैक्समूलर का कथन इस सन्दर्भ में अत्यन्त महत्व-पूर्ण और सारगर्भित है। कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय में बोलते हुए बड़े पुरजोश के साथ उन्होंने कहा था—"यदि हम किसी ऐसे देश का पता लगाने के लिए, जिसे प्रकृति ने सबसे सम्पन्न, शक्तिशाली और सुन्दर बनाया है, सम्पूर्ण विश्व की खोज करें, जो धरती पर स्वर्ग की तरह हो, हमारा ध्यान बरबस भारत की ओर जायेगा। यदि मुझसे कोई पूछे कि किस आकाश के तले मनुष्य के दिमाग ने अपने कुछ सबसे महत्वपूर्ण मसलों पर गहराई में विचार किया है, तब मैं भारत के लोगों की ओर इशारा करूँगा। यदि दुनिया की सतह पर कोई एक ऐसा देश है, जहाँ प्राचीन काल से जिन्दा लोगों के सभी सपनों को साकार होने का अवसर मिला है, तो वह भारतवर्ष है।"

भारत धर्म प्रधान देश है। धर्म और नैतिकता के आधार पर यहाँ की संस्कृति और सामाजिक जीवन का विकास हुआ है। भारतीय संस्कृति की सबसे

महत्वपूर्ण उपलब्धि यह रही है कि इसकी निरन्तरता अक्षुण्ण बनी रही और विश्व की जीवन्त संस्कृतियों का मार्गदर्शन करती रही। वेद, पुराण, उपनिषद जैसे ग्रन्थों की रचना करके भारतीय मनीषियों ने यहाँ की संस्कृति की निरन्तरता को अबाधगति से चलते रहने का मार्ग प्रशस्त किया था। इन महान् ग्रन्थों के नैतिक आदर्श संकट काल में भी आशा की ज्योति प्रकाशित करते रहे। अतः इनकी ओर स्वदेशी और विदेशी सभी विद्वानों का ध्यान जाना स्वाभाविक ही था। मैक्समूलर विश्व के सर्वाधिक चर्चित और प्राच्य विद्या के मान्य विद्वान और विचारक थे। संस्कृत साहित्य का उनका गहरा अध्ययन था। अपने गहरे अध्ययन और मनोयोग के आधार पर जो उपर्युक्त विचार उन्होंने व्यक्त किया है, वह आज के भारतीय सन्दर्भ में सर्वथा उपयुक्त है।

प्रायः यह स्वीकार किया गया है कि सामाजिक और आर्थिक स्थितियों के कारण व्यक्ति का नैतिक आदर्श एक सीमा तक प्रभावित होता है। अपनी प्राकृतिक सम्पदा, लोगों के परिश्रमी जीवन तथा घरेलू उद्योग धन्धों के कारण भारत धन-धान्य से परिपूर्ण था। इसकी चर्चा हमारे प्राचीन ग्रन्थों में भी की गई है। कहीं-कहीं भारत को 'सोने की चिड़िया' की संज्ञा दी गई है। इसलिए लूट-पाट के उद्देश्य से विदेशी लुटेरों द्वारा इस देश पर लगातार हमले होते रहे। इतिहास इसका साक्षी है। हमलावर आते थे, लूट-पाट कर हीरे-जवाहरात, सोने, चाँदी के रूप में बहुत बड़ी सम्पत्ति लेकर जाते थे और साथ ही अपनी हमलावर और अनैतिक संस्कृति का प्रभाव छोड़ जाते थे। इस कारण चरित्र में गिरावट का क्रम प्रारम्भ हो गया।

भारतीय धर्म ग्रन्थों में त्याग और तपस्या के जीवन पर जोर दिया गया है। कारण स्पष्ट है। सुविधा सम्पन्न जीवन व्यक्ति को आलसी और प्रमादी बनाने के साथ उसके विचार को भी दूषित करता है। "और अधिक की चाह" व्यक्ति के विचार बुद्धि को नष्ट कर उसे स्वार्थी और लोलुप बना देती है। इन भावनाओं से ग्रसित व्यक्ति समाज और स्वयं अपने लिए अभिशाप होता है। इसलिए गीता में कर्मयोग को प्रधानता दी गई है। कर्म करना हमारा कर्तव्य है, लेकिन फल के उद्देश्य से किया गया कर्म अपना अभिप्राय नष्ट कर देता है। यह हमारा दुर्भाग्य था कि गीता के इस महत्वपूर्ण मार्ग को हम भूल गये और स्वार्थपरता से ग्रसित होते गये। इसका दुष्परिणाम कालान्तर में हमारे सामने आया। हमारी सांस्कृतिक और बौद्धिक शक्ति का दिनों दिन ह्रास होने लगी और हम विनाश के कगार तक पहुँच गये।

लेकिन यह पवित्र आत्माओं की धरती है। गंगा की पावन धारा इसी धरती पर बहती है। जब जब संकट के बादल यहाँ मँड़राये, तब-तब किसी महान् व्यक्ति ने यहाँ जन्म लिया और आसन्न संकट से मुक्ति दिलाया।

शंकराचार्य, रामानुजाचार्य, वल्लभाचार्य आदि महात्माओं के जन्म लेने की कथा और उनके कार्यों को हमें इसी सन्दर्भ में लेना चाहिए। शंकराचार्य का जन्म आठवीं शताब्दी में हुआ था। आर्थिक दृष्टि से तो हम उस समय भी बहुत कमजोर नहीं हुए थे, किन्तु ऐतिहासिक तथ्य हमारे विपरीत हो चले थे। भारत छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त हो रहा था और शासकों में मतैक्य नहीं था। परिणाम स्वरूप आये दिन एक दूसरे पर आक्रमण करते रहते थे। इससे देश कमजोर हो रहा था और 'सोने की चिड़िया' कहा जाने वाला राष्ट्र 'मिट्टी का खिलौना' बनता जा रहा था।

सामाजिक स्तर पर कमजोरी आ रही थी और नैतिकता, जिसके आधार पर हम विश्व के महान् लोगों में गिने जाते थे, पतनोन्मुखी हो चली थी। साधु-सन्तों द्वारा स्थापित मठ और आश्रम, जो पूर्व में सबके लिए प्रेरणा के श्रोत थे, उनमें कमजोरियाँ आ गई थीं। इनकी मर्यादायें प्राय: समाप्त हो गई थीं और ये पाखण्ड और भ्रष्टाचार के अड्डे बने हुए थे। भिन्न भिन्न प्रकार के मत-मतान्तरों के प्रचार-प्रसार से जनता उलझन में पड़ी हुई थी और मठाधीशों के भ्रष्ट और अनैतिक आचरण से उनके प्रति घृणा की भावना प्रबल हो रही थी।

बौद्ध धर्म जो किसी समय अपने नैतिक और बौद्धिक आदर्शों के लिए श्रेष्ठ माना जाता था, अब द्वेष-विद्वेष का केन्द्र बना हुआ था। महात्मा बुद्ध द्वारा स्थापित मर्यादायें टूट चुकी थीं और उनमें अनेक शाखायें बन गई थीं। बौद्ध भिक्षुणियों के संग-साथ से भिक्षु विलासी बन गये थे और उनका आपसी विरोध सामाजिक जीवन में कलह का आधार बनता जा रहा था।

नैतिक गिरावट की दिशा में जैनियों की भी स्थिति कम नहीं थी। अपने तीर्थाङ्करों की मर्यादायें तोड़कर वे भी विलासी हो गये थे। स्त्रियों के प्रति उनका आकर्षण सीमायें लाँघ गया था और प्रत्यक्ष रूप में स्त्रियाँ उनके साथ रहतीं और उनके भोग विलास का साधन बनी हुई थीं।

इन प्रमुख धर्मों के विनाश के कगार पर पहुँच जाने के परिणामस्वरूप अन्धविश्वास की मात्रा बढ़ गई थी और अनाचार होने लगे थे।

शंकराचार्य का जन्म केरल प्रदेश में हुआ था और उनकी शिक्षा-दीक्षा काशी में हुई थी। उन्होंने भारत के सभी प्रमुख तीर्थों की यात्रायें कीं। अतः उस समय की स्थिति को स्वयं उन्हें अपनी आँखों से देखने का अवसर मिला। तीर्थों की पवित्रता पाखण्ड और अनाचार का शिकार हो रही थी, इसे अनुभव करके उन्हें अपार दुख हुआ और तभी उन्होंने निश्चय किया कि उस भयंकर स्थिति से देश को बचाना चाहिए।

शंकराचार्य अद्भुत प्रतिभा के व्यक्ति थे। कहते हैं कि तीन वर्ष की अवस्था में उनकी शिक्षा शुरू कर दी गई थी और पांच वर्ष की आयु प्राप्त करते-करते उन्होने व्याकरण और साहित्य का समुचित ज्ञान प्राप्त कर लिया था। उनके हृदय में ईश्वरीय शक्ति विराजती थी धर्म के नाम पर फैले पाखण्डों और अनाचारों से भारतीय जन जीवन की रक्षा का निश्चय ईश्वरीय प्रेरणा थी। उन्होंने जर्जर हिन्दू धर्म को फिर से नई शक्ति देने का प्रयास किया और उन्हें इस कार्य में सफलता मिली।

उनका मुख्य संघर्ष बौद्धों से था। बौद्ध भिक्षु धार्मिक मान्यता के स्तर पर पहले दो और बाद में अठारह भागों में विभक्त हो गये थे। महात्मा गौतम बुद्ध द्वारा निधारित बौद्ध धर्म की मान्यताओं की उपेक्षा करने के कारण ये भिक्षु भी समाज से उपेक्षित कर दिये गये थें। बिलासिता में डूबे ये लोग शंकराचार्य का सामना करने का साहस नहीं करते थे। लेकिन जनता की इच्छा और लोकमत के दबाव में पड़कर जब शंकराचार्य से इन्हें शास्त्रार्थ करना पड़ता, तब पराजित होकर उनका शिषत्व स्वीकार कर लेते। इस प्रक्रिया में बौद्धों का ह्रास होता गया और शंकराचार्य और उनका मत भारतीय जन मानस पर अपना प्रभाव जमाता गया।

शंकराचार्य जगत में एक ही सत्य की कल्पना को स्वीकार करते हैं, वह है—ब्रह्म। उनकी मान्यता है कि आराधना चाहे जिस नाम से भी क्यों न हो, वह उसी परमपुरुष की होती है। उन्होंने भक्ति को दो श्रेणियों में विभक्त किया है—स्थूल और सूक्ष्म। श्रेष्ठ भक्त की परिभाषा करते हुए उन्होंने कहा है कि भक्त शिरोमणि उसी को माना जा सकता है, जो सभी जीवों में भगवान को देखे।

शंकराचार्य ने अपने सभी मनोभावों को हरिचरणों में अर्पित करते हुए कहा है—"हे नाथ ! यह सत्य है कि आप में और मुझ में कोई भेद नहीं है,

परन्तु सागर में तरंग होती है, तरंग में सागर नहीं होता। इसी प्रकार आपसे मैं हूँ, आप मुझसे नहीं।"

वे जगत को मिथ्या और परिवर्तनशील मानते थे। माया के कारण ही यह जगत अपना और पराया दिखाई पड़ता है। माया के कारण अविद्या है। जैसे ही अद्वैत ब्रह्म का ज्ञान होता है, माया का नाश हो जाता है। बुद्धि और तर्क को उन्होंने शब्द जाल बताया। इनके माध्यम से किसी तथ्य पर नहीं पहुँचा जा सकता। वस्तुतः उनकी दृष्टि में ब्रह्म ही जगत है।

शंकराचार्य द्वारा प्रतिपादित मत और उनकी भावना से कुछ विद्वानों ने उन्हें प्रच्छन्न बौद्ध कहा है। यह उचित नहीं है। वे स्वामी गौड़पाद के शिष्य थे, जो भगवान् बुद्ध और नागार्जुन के दर्शन के अनुयायी थे। स्वामी गौड़पाद जगत और जीव में विश्वास नहीं करते थे, उन्हें सारा विश्व माया के रूप में दीखता था। शंकराचार्य एक सीमा तक इनके दर्शन से प्रभावित थे, लेकिन केवल इसी आधार पर उन्हें प्रच्छन्न बौद्ध या बौद्ध मत से प्रभावित होना नहीं माना जा सकता।

अपने मत के प्रचार-प्रसार में उनका मुख्य संघर्ष बौद्धों से ही हुआ और जिस सच्चाई और निष्ठा से उन्होंने बौद्धों के दुराचरण पर प्रहार किया, इससे स्पष्ट हो जाता है कि बौद्ध धर्म से उनका कोई लगाव नहीं था।

रामानुजाचार्य भक्ति मार्ग के आचार्यों में प्रधान थे। वे सगुण ब्रह्म के उपासक थे। स्वामी रामानुज ने जीव की मुक्ति का एकमात्र साधन भक्ति मार्ग को ही माना है। ज्ञान मुक्ति मार्ग में एक सहचर मात्र तो हो सकता है, किन्तु वह जीव को मुक्ति दिलाने का साधन नहीं हो सकता। गोस्वामी तुलसीदास ने भी रामानुज के सिद्धान्त को स्वीकार किया और भक्ति को जीव की मुक्ति का साधन माना है।

अतः शंकराचार्य और रामानुज के सिद्धान्तों में मौलिक भेद हैं। रामानुज ने शंकर मत का पुरजोर शब्दों में खण्डन किया और उनके सिद्धान्तों की कड़ी आलोचना की। प्रो० आर० जी० भण्डारकर ने लिखा है कि "रामानुज जीव, जगत और ईश्वर की सत्ता स्वीकार करने पर अद्वैतवादी हैं। चूंकि उन्होंने विशेषण और विशेष्य के साथ इसे स्वीकार किया है, इसलिए उनका सिद्धान्त विशिष्टाद्वैतवाद कहलाता है।"

रामानुजाचार्य ने केवल तीन पदार्थों को माना है—चित् अथवा भोगों में रमने वाला जीव। अचित् अथवा जगत, जिसका भोग जीव करता है। ईश्वर,

अन्तर्यामी है और सब में विद्यमान है। इसलिए जीव और जगत ईश्वर के अधीन हैं।

शंकराचार्य की तरह रामानुज ने भी अपने मत और सिद्धान्तों के प्रचार-प्रसार के लिये मठों की स्थापना की। उनके द्वारा स्थापित आठ गद्दियों में से दो गृहस्थ और छः संन्यस्त थीं।

स्वामी रामानुज के ग्रन्थों में तीन बहुत महत्वपूर्ण माने गये हैं। ब्रह्म सूत्र पर लिखा गया 'श्रीभाष्य' विष्णु सहस्र नाम पर 'भगवतगुण दर्पण' और 'दिव्य प्रबन्धम्'। इनके अतिरिक्त वैष्णव साम्प्रदाय पर अवलम्बित उनके पाँच और ग्रन्थ हैं।

शंकराचार्य की अपेक्षा रामानुज के सिद्धान्त सरलता पूर्वक ग्राह्य थे, इसलिए अधिकाधिक संख्या में लोग इनकी तरफ आकर्षित हुए।

स्वामी रामानुज का जीवन दर्शन भक्ति से प्रभावित था। जो लोग उनके जीवन के कार्यक्रमों से परिचित हैं, वे सहज ही में स्वीकार कर सकते है कि रामानुज ज्ञान और ईश्वर को आधार बनाकर शब्दों के आडम्बर में कभी नहीं पड़े। वे सरल रूप में जीव की मुक्ति का साधन भक्ति को मानते थे। उनका अपना जीवन इसी सिद्धान्त पर आधारित था। वे जिस व्यक्ति को अपना दीक्षागुरू बनाना चाहते थे, वे हरिजन थे। इससे स्पष्ट ही पता चलता है कि जाति-पाँति का बन्धन उन्हें स्वीकार नहीं था। वस्तुतः वे 'मानव-मानव एक समान' के सिद्धान्त को स्वीकार करते थे।

वल्लभाचार्य 'पुष्टिमार्गी' थे। उन्होंने अपने नये साम्प्रदाय की स्थापना श्रीमद्भागवत के आधार पर किया था। दार्शनिक जगत में इनका मत शुद्धाद्वैत के नाम से प्रसिद्ध है।

बल्लभाचार्य सगुण ब्रह्म के उपासक थे और वे सम्पूर्ण विश्व को माया रूप में ही देखते थे। विश्व की एकमात्र सत्ता ब्रह्म है, जगत और जीव की सत्ता इसके ही कारण है। इसीलिए शंकराचार्य के अद्वैत सिद्धान्त के प्रतिकूल इनके सिद्धान्त को शुद्धाद्वैत करते हैं। ब्रह्म सच्चिदानन्दमय है और उसकी शक्तियाँ अनन्त हैं। वह अपनी आत्मा में निरन्तर रमण करता है। उन्होंने श्रीकृष्ण को ही ऐसे गुणों से सम्पन्न परब्रह्म स्वीकार किया है।

वल्लभाचार्य ने जीव के उद्धार के लिए तीन मार्गों को बताया है—पुष्टिमार्ग, प्रवाह मार्ग और मर्यादा मार्ग।

पुष्टिमार्ग भक्तिमार्ग से सम्बन्धित है। संसार के प्रवाह में पड़ कर सांसारिक सुखों का उपयोग करना प्रवाह मार्ग है और वेद के अनुसार कर्म और ज्ञान का सम्पादन करना मर्यादा मार्ग है।

जीव की मुक्ति के लिए वल्लभाचार्य ने पुष्टिमार्ग को श्रेष्ठ माना है। रामानुज की तरह वल्लभाचार्य ने भी जाति-पाँति के बन्धन को स्वीकार नहीं किया। उन्होंने कहा है—"वर्ण, जाति तथा देश आदि के भेदों से रहित होने के कारण पुष्टिमार्ग कलियुग में सुगम मार्ग है।"

वल्लभाचार्य को श्रीकृष्ण भक्ति धारा के प्रबल समर्थक या जन्मदाता के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। उन्होंने पुष्टिमार्ग और शुद्धाद्वैत मत द्वारा यह प्रतिपादित किया कि श्रीकृष्ण ही पारब्रह्म परमेश्वर हैं, उनकी भक्ति, आराधना और चिन्तन से जीव आनन्दमय बन सकता है। वल्लभ सम्प्रदाय के लोग बाल-कृष्ण की पूजा करते हैं और इनके मन्दिरों में बालगोपाल की मूर्तियाँ रखी जाती हैं।

वल्लभाचार्य द्वारा प्रतिपादित पुष्टिमार्ग ने भारतीय जन-मानस को बहुत प्रभावित किया। यह एक प्रकार से नव-जागरण अथवा आन्दोलन जैसे था। इसके प्रभाव से कवियों एवं कलाकारों को प्रेरणा मिली और उस काल से लम्बे समय तक साहित्य, काव्य और कला का सृजन मुख्यरूप से श्रीकृष्ण भक्ति पर आधारित रहा। अष्टछाप के कवियों ने कृष्णभक्ति का माधुर्य उत्तर भारत में बिखेर दिया और उनके काव्य माधुर्य से एक ऐसा वातावरण उत्पन्न हो गया, जो लम्बे समय तक निरन्तर आनन्द और स्फूर्तिदायक बना रहा।

वल्लभाचार्य श्रीमद्‌भागवत को अपने आदर्श और सिद्धान्त का आधार स्तम्भ मानते थे। उन्होंने शंकराचार्य की भांति प्राय: सभी प्रमुख तीर्थ स्थानों की यात्रायें कीं और श्रीकृष्ण प्रेम की भावना का प्रचार किया। वे जहाँ भी जाते, श्रीमद्‌भागवत महापुराण को सर्वश्रेष्ठ स्थान पर रख कर उसकी विधिवत-पूजा करते और इस महापुराण की महता और श्रेष्ठता से लोगों को अवगत कराते थे। अपेक्षाकृत ब्रज, राजस्थान और गुजरात में उनके भक्तों की संख्या बहुत अधिक थी।

ईश्वर-माया, जीव-जगत आदि विषय सामान्य व्यक्तियों की पहुँच और समझ के बाहर के होते हैं। भारतीय दर्शन का एक सबल आधार तर्क होता है, किसी प्रतिपादित सिद्धान्त को सत्य-असत्य प्रमाणित करने के लिए इसका सहारा आवश्यक है। तर्क का सम्बन्ध ज्ञान और बुद्धि से अधिक होता है।

इसलिए इसका प्रयोग ज्ञानी और पंडित ही कर सकते हैं। शंकर ने बौद्धों और जैनियों को पराजित करने में तर्कशास्त्र का प्रयोग किया। स्वामी रामानुज तर्कशास्त्री नहीं थे, किन्तु शास्त्रार्थ उन्हें भी करने पड़े और किसी भी शास्त्रार्थ में तर्क का प्रयोग अश्वम्भावी हो जाता है। अतः इस प्रकार के शास्त्रार्थ विद्वानों और ज्ञानियों को तो आकर्षित कर सकते हैं, किन्तु सामान्य नागरिक प्रायः इस प्रकार के मस्तिष्क व्यायाम से अप्रभावित ही रह जाता है। इस वर्ग को आकर्षित करने के लिए सरल और सहज मार्ग ही अपेक्षित है।

गोस्वामी तुलसीदास कृत 'रामचरित्र मानस' कालान्तर में जन मानस में इस प्रकार घर-घर छा गया कि लोग उसी की भाषा में बात करने लगे और वह उनका आदर्श ग्रन्थ बन गया। बाल्मिकी 'रामायण' और अन्य जिन ग्रन्थों के आधार पर 'रामचरित मानस' की रचना हुई थी, प्रायः वे सभी पीछे छूट गये और तुलसी का 'मानस' बहुचर्चित और लोकप्रिय ग्रन्थ बन गया। इसका कारण सरल और सीधा है। गोस्वामी जी ने भक्ति की प्रधानता को स्वीकार किया और इसे ही जीव की मुक्ति का साधन बताया। ज्ञान का अर्जन मनुष्य की बुद्धि शक्ति पर आधारित होता है। सबकी बुद्धि बराबर या उर्वरक नहीं होती। अतः ज्ञान और तर्क में वे पीछे छूट जाते हैं। ज्ञानियों की बातों को वे कोरा पुस्तकीय ज्ञान मानकर उससे उदासीन हो जाते हैं। अतः गोस्वामी जी ने भक्ति को प्रधानता दी और जनता की बोल-चाल की भाषा में 'रामचरित मानस' की रचना की। इसी का परिणाम यह हुआ कि वे सर्वाधिक लोकप्रिय दार्शनिक सन्त और कवि हुए और उनका 'मानस' सर्वाधिक चर्चित और मान्य ग्रन्थ है।

वल्लभाचार्य जीव की मुक्ति का सहज मार्ग प्रतिपादित करना चाहते थे। इसीलिए उन्होंने अपने पूर्व आचार्यों के मार्ग का अनुसरण नहीं किया। वस्तुतः ऐसा नहीं माना जा सकता कि उन्होंने पूर्ववर्ती आचार्यों के सभी सिद्धान्तों और मतों को नकारा अथवा उनकी आलोचना की। केवल इतना कहा जा सकता है कि उन्होंने मध्य माग को अपनाया और बुद्धि व्यायाम से लोगों को दूर रखकर उनकी सम्पूण मानसिक उलझने समाप्त कर दीं।

वल्लभाचार्य के काल में भारत मुस्लिम शासन के शिकंजे में आ चुका था। मुस्लिम संस्कृति और शिक्षा प्रभावी ढंग से कार्य कर रही थी और हिन्दू जनता त्रस्त थी। ऐसे सक्रान्ति काल में धर्म ही जनता का एकमात्र सम्बल था। स्वामी वल्लभाचार्य ने जनता के मनोभावों को समझा और उन्होंने भक्तिमार्ग

की ओर उसका ध्यान आकर्षित किया। श्रीकृष्ण को पारब्रह्म बताकर उनकी आराधना को सर्वश्रेष्ठ मार्ग निरूपित किया।

वल्लभाचार्य के समय में बंगाल में महाप्रभु चैतन्य देव का भी आभिर्भाव हुआ था और इन दोनों महात्माओं का आपसी साक्षातकार प्रयाग में त्रिवेणी तट पर हुआ। चैतन्य देव भी श्रीकृष्ण के उपासक थे। जो कार्य वल्लभाचार्य उत्तर और दक्षिण भारत में कर रहे थे, उसी की पूर्ति वे बंगाल और उड़ीसा में कर रहे थे। संयोग से सम्पूर्ण देश इन दोनों महात्माओं का कार्यक्षेत्र बन गया था था। इनके शुद्ध आचरण और भक्ति प्रधान उपदेशों के कारण भारी संख्या में लोग इनसे प्रभावित होते गये और श्रीकृष्ण की जय-जयकार से सम्पूर्ण भारतीय गगन मण्डल गूँज उठा।

यह संयोग की ही बात थी कि शंकराचार्य और कुमारिल भट्ट का मिलन भी इसी त्रिवेणी के पावन तट हुआ था और इन्हीं की प्रेरणा से शंकराचार्य प्रकाण्ड कर्मकाण्डी मण्डन मिश्र से मिले और दिग्विजय प्राप्त किया। लगभग आठ सौ वर्षों बाद वल्लभाचार्य और चैतन्य महाप्रभु का भी संगम इसी पावन त्रिवेणी पर हुआ। दोनों के योगदान से श्रीकृष्ण पूजा पद्धति देश के कोने-कोने में प्रतिष्ठित हुई।

शंकर, रामानुज और वल्लभाचार्य के सिद्धान्तों और मतों का अध्ययन करते समय हमें उनके अपने-अपने काल की राजनैतिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक स्थितियों का भी ध्यान रखना आवश्यक है। यदि ऐसा नहीं किया जाता, तो हम अपने निष्कर्षों में गलत प्रमाणित हो सकते हैं। सन्तों एवं धर्माचार्यों के आचरण जब पाखण्ड, आडम्बर तथा अनाचार से प्रभावित हो जाते हैं, उस समय विकट स्थिति पैदा हो जाती है। शंकराचार्य के समय में बौद्धों, जैनियों एवं कापालिकों का अनाचार अपनी सीमा पार कर रहा था और धर्म के नाम पर अनेक प्रकार के पाखण्ड हो रहे थे। ऐसी स्थिति में धार्मिक जीर्णोद्धार के लिए शंकराचार्य को विकट परिश्रम करना पड़ा। निश्चय ही उन्हें अपने कार्यों के सम्पादन और लक्ष्य प्राप्ति हेतु समयानुकूल ऐसे आचरण करने पड़े, जिनकी इस समय हम कल्पना न कर सकते हों। एक कापालिक धोखे से उनका शिष्य हो गया था और एक दिन अकेले में उनका सिर उतार लेने का प्रयास किया। दैवयोग से वे बच गये। ऐसे व्यक्तियों से स्वयं मुक्ति पाने और समाज को मुक्ति दिलाने का रास्ता क्या हो सकता था? इसका उचित उत्तर तो वही दे सकता

है, जिसे उन दिनों की घटनाओं का पूर्ण विवरण ज्ञात हो अथवा जिसे उन दिनों की पूर्ण स्थिति का ज्ञान हो।

शंकर के जीवन अध्ययन से हमें प्रतीत होता है कि उनका उद्देश्य अधार्मिक तत्वों का पूर्ण विनाश और धर्म की स्थापना था। अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्हें शास्त्रार्थ, तर्क और संघर्ष का सहारा लेना पड़ा। उनके जिन सिद्धान्तों का रामानुज या वल्लभाचार्य ने आलोचना या खण्डन किया, इसका कोई महत्वपूर्ण औचित्व प्रतीत नहीं होता। शंकर का अद्वैत सिद्धान्त दार्शनिक जगत में विशेष महत्व का विषय है। ब्रह्म, माया, प्रकृति और सृष्टि इसके विशेष मुद्दे हैं। समस्त संसार में आज भारतीय दर्शन ने शंकराचार्य के नाम से जितनी प्रसिद्धि पाई है, उतनी न किसी अन्य आचार्य के नाम से, न किसी ग्रन्थ के नाम पर सम्भव हो सका है। शंकर सिद्धान्त इतना व्यापक है कि भारतीय और विदेशी सभी दार्शनिक विद्वानों को अपनी ओर आकर्षित किया है। शंकराचार्य के जन्म से कुछ पूर्व बौद्धों ने दक्षिण भारत में अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया था और वैदिक सम्प्रदाय का विनाश करने के लिए हर प्रकार से तत्पर रहते थे। उनके अपने समय में भी सुनियोजित ढंग से बौद्ध अपना षड़यंत्रकारी कार्यकम चलाते रहे। यों उनमें विभाजन हो गया था और वे प्रायः अमर्यादित हो गये थे, फिर भी सनातन धर्म पर उनका कुठाराघात व्यापक रूप से होता था।

शंकराचार्य के गुरु गोविन्दाचार्य थे और परम गुरु गौड़पाद थे। गौड़पाद ने माण्डुक्य उपनिषद पर एक महत्वपूर्ण कारिका-ग्रन्थ लिखा है। यह ग्रन्थ बौद्ध दर्शन से प्रभावित है और शंकराचार्य इन्हीं गौड़पाद से प्रभावित थे। इसी आधार पर उन्हें प्रच्छन्न बौद्ध मान लिया गया। यह सर्वथा अनुचित था। क्योंकि वैदिक धर्म को बौद्धों के कुठाराघात से रक्षा और उसे पुनर्जीवित करने के उद्देश्य से उन्होंने 'ब्रह्मसूत्र' की टीका लिखी और उसके द्वारा वैदिक धर्म के महत्व और गरिमा को स्थापित किया। ब्रह्मसूत्रों पर प्राचीन टीका शंकराचार्य की ही है।

वास्तव में शंकराचार्य का उद्देश्य अद्वैत मत की स्थापना था। उनके पूर्व भी अद्वैत की चर्चा महाभारत आदि प्राचीन ग्रन्थों में मिलती है। प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से महाभारत में अद्वैत मत के समर्थन में बहुत बातें कही गई हैं। शंकर ने माया की तुलना साँप और रस्सी से की है। वस्तुतः आज के युग में इसे नहीं स्वीकारा जा सकता। शंकर ने माया को न सत् और न असत् माना है। यह सत्य है कि ब्रह्म के अतिरिक्त कोई भी वस्तु प्रत्यक्ष रूप से वेदान्त मत

में सत्य नहीं है। ब्रह्म से सर्वथा विलक्षण होने पर भी माया अनिवर्चनीया है। वह अज्ञान से आच्छादित है। लेकिन शंकराचार्य माया को तुच्छ मानकर उसका परित्याग नहीं करते। इसलिए शंकर वेदान्त को माया से छुटकारा नहीं है। अतः ज्ञान और अज्ञान का युद्ध स्थल शांकर वेदान्त में हमेशा तैयार है। हाँ, इतना स्वीकार किया जा सकता है कि शंकर सिद्धान्तों में विभेदों का स्थल बहुत सूक्ष्म हो जाता है और ब्रह्म और माया का स्पष्टीकरण दृष्टिगोचर होने लगता है।

ब्रह्म, जीव और माया अनादि हैं। माया कहाँ से आई और ब्रह्म इससे कैसे आच्छादित हुआ? शंकर वेदान्त इस प्रश्न की परिक्रमा करता हुआ, अज्ञान को चैतन्य के सम्मुख ले चलने के लिए प्रयत्नशील है। शंकर अज्ञान रूपी अंधेरे का विनाश ज्ञान रूपी दीपक से करना चाहते हैं। इन्हें अपने कार्य में कितनी सफलता मिली, इसके वास्तविक मूल्यांकन के लिए हमें आठवीं शताब्दी से लेकर अब तक की दर्शनधारा की उत्तरोत्तर वृद्धि पर विचार करना होगा।

यह सर्वमान्य है कि अन्य भारतीय मनीषी या दार्शनिकों की अपेक्षा शंकर मत और विशेषकर उनका अद्वैत मत विश्व भर में अधिक प्रसिद्ध है। संसार के दार्शनिकों द्वारा अद्वैत मत की अपने-अपने रूप में व्याख्या की गई है और शोध प्रबन्ध लिखे जा चुके हैं। इन शोधों और व्याख्याओं के अनुसार शंकर माया को ब्रह्म की शक्ति मानते हैं। किन्तु माया ब्रह्म की नित्य स्वरूप नहीं, वरन् इच्छा-मात्र है, जिसको यदि वे चाहें तो परित्याग कर सकते हैं। इससे यह प्रतीत होता है कि माया ब्रह्म से भिन्न नहीं, बल्कि शक्ति रूप में वह ब्रह्म से उसी प्रकार अविछिन्न है, जिस पर दाहकता अग्नि से और संकल्प मन से।

स्वामी रामानुज शकराचार्य के बहुत बाद हुए। अतः उन्हें इनकी आलोचना का अवसर मिल गया। ब्रह्मसूत्र पर शंकर की ही तरह रामानुज ने भी भाष्य लिखा है, जिसे श्रीभाष्य के नाम से जाना जाता है। इस भाष्य में उन्होंने वेदान्त के अनेक जटिल प्रश्नों की विवेचना की है। शंकर के मायावाद पर भी उन्होंने इसके माध्यम से अनेक आक्षेप किये हैं। यद्यपि अद्वैतवाद की तरफ से इनके समाधान भी किये गये हैं तथापि शंकर और रामानुज के सिद्धान्तों को उचित रूप से समझने में इनसे सहायता मिलती है।

माया को अज्ञान स्वरूप मानकार कहा जाता है कि अज्ञान ब्रह्म को आच्छादित करता है । इसके उत्तर में कहा गया है कि ब्रह्म स्वयंप्रकाश है । अतः उसके आच्छादित होने का प्रश्न नहीं उठता ।

अद्वैतवादी अज्ञान को भ्रम मानते हैं, जैसे रस्सी को सर्प रूप में देखना । इस प्रकार का मिथ्या विषय भ्रमवश पैदा होता है और वास्तविकता का ज्ञान होते ही भ्रम का नाश हो जाता है ।

रामानुजी सम्प्रदाय के आचार्य ब्रह्म को निर्गुण नहीं, वरन् सगुण मानते हैं । उनकी मान्यता हैं कि ब्रह्म में राग-द्वेष गुण नहीं पाया जाता । ब्रह्म ही जगत की सृष्टि, पालन और प्रलय करते हैं । जगत के प्रलय के बाद भी ब्रह्म में चित् और अचित् अर्थात् जीव और प्रकृति बीजावस्था में निवास करते हैं । सृष्टि होती है, तब ब्रह्म जीवों और भौतिक विषयों में व्यक्त रहता है ।

शंकर का अद्वैत और रामानुज का विशिष्ठाद्वैत भारतीय दर्शन के गम्भीर और आधारभूत सिद्धान्त है । जन मानस तक इन्हें पहुँचाने तथा प्रतिष्ठित करने के उद्देश्य से आचार्यों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से इन सिद्धान्तों की व्याख्या की हैं । चूँकि दर्शनशास्त्र स्वयं अपने आप में गम्भीर और कठिन विषय है, इसलिए व्याख्याकारों ने अनेक प्रकार के आलम्ब और उपालम्ब का सहारा लेकर अपने-अपने सिद्धान्त को श्रेष्ठ और मान्य प्रमाणित करने का प्रयत्न किया है ।

भारतीय दर्शन और शंकर का अद्वैत मत विश्व दर्शन और संस्कृति में अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं । इसी अध्याय में कहा गया है कि शंकर सिद्धान्त पर केवल अपने ही देश में नहीं, वरन् संसार के अन्य देशों के विद्वानों द्वारा ग्रन्थ लिखे गये हैं तथा शोध प्रबन्ध तैयार किये गये हैं । निश्चय ही उन्हें धार्मिक आचार्य ही नहीं, वरन् महान् विचारक और दार्शनिक स्वीकार किया गया है ।

वर्तमान युग वैज्ञानिक और भौतिकवादी है । प्राचीन धार्मिक मान्यतायें छिन्न-भिन्न होती जा रही हैं । शिक्षा के प्रचार-प्रसार के कारण भी लोगों के सोचने विचारने का दृष्टिकोण बदला है । लेकिन वैदिक ग्रन्थों एवं प्राचीन आचार्यों द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों के माध्यम से भारतीय समाज प्रेरणा ग्रहण कर रहा है । झंझावत आंधी-तूफानों के बवन्डर के अनेक बार और वह भी लम्बे समय तक प्रभावी रहने के बाद भी अपने देश की संस्कृति और धर्म का पूर्णतः विनाश न होना इनकी आन्तरिक शक्ति और गहराई का परिचायक है । अन्धविश्वास अथवा अज्ञानता की संज्ञा से विभूषित करके इनकी महानता को कम नहीं किया जा सकता ।

वैज्ञानिक आविष्कार अथवा उनकी उपलब्धियाँ जहाँ मानव समाज के लिए वरदान हैं, वहीं अभिशाप भी। विश्व के राजनीतिक मंच से एक ओर विज्ञान और तकनीकी आविष्कार और शिक्षा को प्रोत्साहित करने के लिए अनेक प्रयत्न किये जा रहे हैं. वहीं अणु अस्त्रों पर प्रतिबन्ध और इनके प्रयोग न करने के आश्वासन की वार्तायें चल रही है। द्वितीय विश्वयुद्ध की समाप्ति सन् १९४५ में जापान के हिरोशिमा और नागासाकी शहरों पर एटम बम गिराने के बाद हुई। बम गिराने के परिणाम स्वरूप लाखों व्यक्तियों की जानें गईं, अरबों की सम्पत्ति का विनाश हुआ और बम में प्रयोग किए गये विस्फोटक पदार्थों के कारण वर्षों तक इन स्थानों का वायु मण्डल दूषित रहा, जिसके कारण तरह-तरह की विमारियों का प्रकोप बना रहा।

यदि विज्ञान की उपलब्धि का प्रयोग बम बनाने अथवा अपने विरोधियों के विनाश के लिए किया जायेगा, तो मानव और मानवता दोनों का विनाश हो जायेगा और उस स्थिति में विज्ञान वरदान नहीं, अभिशाप प्रमाणित होकर रह जायेगा।

विश्व के प्रमुख राष्ट्रों द्वारा शक्ति संतुलन अपने-अपने पक्ष में बनाये रखने की जो प्रक्रिया और दाव-पेंच चलाये जा रहे हैं, इसलिए भविष्य अनिश्चित सा बना हुआ है। आज के ऐतिहासिक और राजनीतिक तथ्यों के अवलोकन से ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे हम ज्वालामुखी पर खड़े हों।

आज के सन्दर्भ में प्रश्न केवल किसी एक राष्ट्र भारत, रूस अथवा अमेरिका का नहीं है। सम्पूर्ण मानवता खतरे की विन्दु तक पहूँच चुकी है। कहने को तो हम प्रगति पथ पर हैं, किन्तु नैतिक, बौद्धिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों के साथ-साथ हमारा राष्ट्रीय चरित्र भी गिरावट की ओर है। किस प्रकार रक्षा हो, प्रश्न यह है।

भारत की धरती परम् पवित्र और सन्तों की जन्मभूमि रही है। सामरिक साज सामानों से लैस ब्रिटिश सेना का हथियार ग्रहण किए विना सामना करने वाले महात्मा गांधी इसी धरती पर अवतरित हुए थे। घटना इसी शताब्दी की है, इसलिए विस्तार में जाने की आवश्यकता नहीं।

आवश्यकता पुनः पीछे मुड़कर वैदिक, रामायण तथा महाभारत काल की ओर देखने की है। सम्पूर्ण मानवता का रक्षा कवच इसमें हमें प्राप्त होगा। आधुनिकता वाह्य आडम्बर से तो हमें सुसज्जित तो कर सकती है, किन्तु आध्यतिमक दृष्टि से हमें सुखी नहीं बना सकती।

●

वैराग्यमात्म बोधो भक्तिश्चेति त्रयं गदितम् ।
मुक्तैः साधनमादौ तत्र विरागो वितृष्णता प्रोक्ताः ।।

—शंकराचार्य

शंकराचार्य

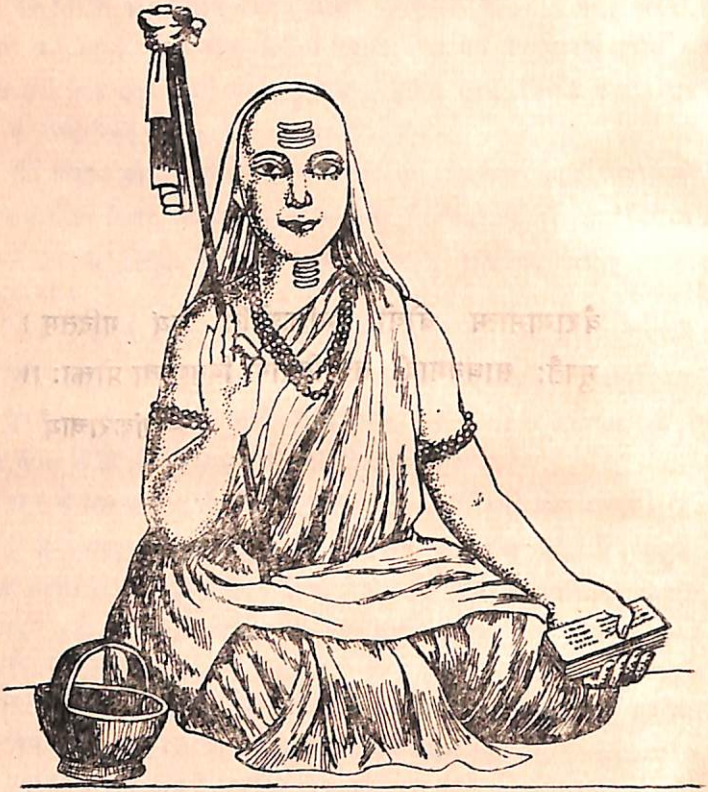

जन्म — संबत् ७८८
अवसान — संबत् ८२०

जन्म और काल

'इस तरह से न जाने कितनी पीढ़ियों से बच्चे हमारे घर आकर प्रसाद लेते रहे हैं। ऐसा लगता है कि शायद मेरे साथ ही अब यह परम्परा हमेशा के लिए बन्द हो जायेगी।' यह कहते-कहते पण्डित शिवगुरु का गला भर आया। वे आगे कुछ न बोल सके।

'बन्द क्यों होगी ? जब हम दूसरों को भगवान का प्रसाद बांटते हैं, तब हमें उनका प्रसाद क्यों नहीं मिलेगा।' पण्डित शिवगुरु की धर्मपत्नी आर्याम्बिका ने पति को सान्त्वना देते हुए कहा।

कुछ समय पश्चात इन्हीं पति-पत्नी को भगवान शंकराचार्य के पिता-माता होने का परम-पद प्राप्त हुआ था।

केरल प्रदेश में एक छोटी नदी है। उसका नाम है पूर्णा नदी। सौन्दर्य और हरी-भरी घाटियों से सुसम्पन्न इस नदी के किनारे एक छोटा-सा गाँव है—उसे कालडी कहते हैं। इसी गाँव में पण्डित शिवगुरु नाम के एक कुलीन ब्राह्मण रहते थे। उनकी पत्नी का नाम आर्याम्बिका था। वह धनी थे—धन-धान्य से, विद्या-विनय से और शील-संयम से। घर में किसी वस्तु की कमी नहीं थी। निवास गृह सुन्दर बना था। उसमें एक पूजा गृह भी था। दोनों समय भगवान की आरती और पूजा होती थी। बड़ी लगन और श्रद्धा से पण्डित शिवगुरु और उनकी पत्नी भगवान की पूजा करते थे। गांव के लड़के पूजा के बाद प्रसाद पाते थे। भगवान की पूजा के लिए उत्तम प्रकार की सामग्री मँगाई जाती थी। बच्चे किस फल का प्रसाद पाकर प्रसन्न होंगे, इस बात का भी ध्यान रखा जाता था। नित्य नये-नये ताजे फल और मिठाई से भगवान को भोग लगाया जाता था।

पूजा के अवसर पर बच्चों की भीड़ अपने आप जमा हो जाती थी। माता आर्याम्बिका और पण्डित शिवगुरु दोनों को बच्चों से बड़ा प्रेम था और वे अपने घर आये सभी बच्चों के साथ बहुत स्नेह और प्यारपूर्वक व्यवहार करते थे।

एक दिन पूजा के बाद बच्चों को प्रसाद देकर माता आर्याम्बिका अपने पति के सामने भोजन की थाल रख कर पंखा झलने लगी। लेकिन उस दिन पंडित

जी के चेहरे पर एक अजीब उदासी छाई थी और भोजन में उन्हें कोई उत्साह नहीं था। पत्नी को पति की यह उदासी भयंकर प्रतीत हुई। अभी वे इस उदासी का कारण पूछने के लिए अपने मन में विचार कर ही रही थीं कि पंडित जी ने कहा—'आर्या' !

आर्याम्बिका बोलीं—'जी'।

पंडित शिवगुरु ने कहा—'जाने कितनी पीढ़ियों से बच्चे हमारे घर आकर प्रसाद लेते रहे हैं। ऐसा लगता है कि शायद मेरे साथ ही अब यह परम्परा हमेशा के लिए बन्द हो जायेगी।'

पति को ढाढ़स देते हुए आर्याम्बिका बोलीं—'बन्द क्यों होगी ? जब हम दूसरों को भगवान का प्रसाद बांटते हैं, तब हमें उनका प्रसाद क्यों नहीं मिलेगा।' आर्याम्बिका के स्वर में अटल विश्वास था।

पत्नी की बात से पंडित शिवगुरु को कुछ संतोष मिला, किन्तु उनका मन अब भी दुखी था। वे सोच रहे थे कि उम्र एक-एक दिन करके बीतती जा रही है, बुढ़ापा दौड़ता-भागता चला आ रहा है और अब तक सन्तान का मुँह देखना नसीब न हुआ। रह-रह कर यह विचार उनका हृदय मन्थन कर रहा था। मन की ऐसी स्थिति में आराधना और पूजा में उनका मन भी नहीं लगता था। एक दिन उन्होंने अपनी पत्नी से कहा—'आजकल मन में बड़ी अशांति है, अजीब प्रकार का सूनापन महसूस होता रहता है। किसी भी काम में मन नहीं लगता है। पूजा में भी नहीं। फिर ऐसी पूजा से क्या लाभ।'

पत्नी ने पण्डित जी को समझाया—'आप अपना मन छोटा न करें। ईश्वर में विश्वास और आस्था रखें। हमने कभी किसी का कुछ बिगाड़ा नहीं है, कभी किसी का अनभल नहीं चाहा, फिर भगवान हमारी मनोकामना क्यों न पूरी करेंगे ?'

आर्याम्बिका की बात सुनकर पंडित जी कुछ नहीं बोले। उनके चेहरे की उदासी और गम्भीरता पूर्ववत् बनी रही। इधर पंडित जी का स्वास्थ्य भी पहले की तरह न रहा और दिन प्रतिदिन उनका आहार भी कम होता जाता था। उनकी यह दशा देखकर पत्नी को बहुत दुख हुआ और भविष्य की चिन्ता से उनका धैर्य जाता रहा।

समय देखकर एक दिन आर्याम्बिका ने पंडित जी से प्रस्ताव किया—'इस वर्ष शिव पेरूर के मन्दिर में विशेष पूजा का आयोजन है। मेरी इच्छा है कि हम लोग भी वहाँ चलें और कम-से-कम चालीस दिन वहीं रहकर भगवान शंकर की आराधना और पूजा करें।'

पत्नी की बात से शिवगुरु बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने तत्काल अपनी सहमति दे दी।

प्राचीन काल में जिस स्थान पर शिव पेरूर का प्रसिद्ध मन्दिर था, उसी स्थान को अब तिरुच्चुर बोला जाता है। भगवान शंकर की विशेष पूजा में सम्मिलित होने और भजन करने के संकल्प से पंडित शिवगुरु और उनकी पत्नी वहाँ पहुँचकर तीर्थ स्थानों के सभी नियमों का पालन करते हुए अत्यन्त श्रद्धा-पूर्वक भगवान शंकर की पूजा और भजन करने लगे।

पंडित शिवगुरु-दम्पति नियम से प्रत्येक दिन प्रातःकाल चार बजे ब्रह्मबेला में अपनी-अपनी शय्या त्याग देते थे। नित्यकर्म से निवृत्त होकर स्नान करते और फिर पूजा और आराधना। दोपहर के लगभग केवल एक बार भोजन करते। शाम को भी पूजा और आरती का नियम चलता था।

एक दिन आश्चर्यपूर्ण घटना घटी। रात को पंडित शिवगुरु ने एक स्वप्न देखा। उन्हें लगा कि साक्षात् भगवान शंकर उनके सामने खड़े हुए हैं और कह रहे हैं—'मैं तुम्हारी पूजा से बहुत प्रसन्न हूँ। तुम्हें तुम्हारा अभीष्ट वर देना चाहता हूँ। उसके साथ एक शर्त है। एक ऐसा पुत्र दूँगा जो महान् ज्ञानी और प्रकांड पंडित होगा, कि उसकी उम्र कम होगी। अथवा कई ऐसे पुत्र दूँगा जो लम्बी-लम्बी उम्र वाले होंगे, किन्तु सबके सब निरा मूर्ख होंगे। तुम विचार कर जो चुनोगे, वही होगा।'

इतना कहकर भगवान शंकर लोप हो गये। उनके लोप होते ही पंडित जी की नींद टूट गई। पास ही सोई अपनी पत्नी को जगाने के लिए ज्योंही उन्होंने हाथ बढाया कि वे स्वयं उठ बैठीं। जब पंडित जी ने अपने स्वप्न की बात बताई, तो उनके आश्चर्य का ठिकाना न रहा। आर्याम्बिका ने बताया कि वही स्वप्न और ठीक उसी समय उन्होंने भी देखा था।

स्वप्न की बात लेकर पंडित जी के मन में अनेक प्रकार की बातें आने लगीं। वे बोले—'भगवान की यह कैसी माया है। जो पुत्र विद्वान् और ज्ञानी होगा, उसकी आयु कम होगी और जो मूर्ख होंगे वे बहुत दिनों तक जीवित रहेंगे। यह कैसी विडम्बना है। हम इनमें क्या चुनाव करें।'

आर्याम्बिका का मन समुद्र की तरह गहरा और हिमालय की तरह ऊँचा था। उनके मन में किसी प्रकार की चिन्ता नहीं व्यापी। पति को इस प्रकार अधीर होते देख वे बोलीं—'आप इतना चिन्तित क्यों हो जाते हैं। हम लोग

चुनाव करने वाले होते कौन हैं ? हमें सब कुछ भगवान पर ही छोड़ देना चाहिए ।'

अपने को भगवान को सौंपकर दोनों प्राणी की सारी चिन्तायें और मन की आकुलता जाती रही । दोनों अपने नियमित काम में लग गये । कालडी लौटने के एक दिन पूर्व पति-पत्नी ने शिवलिंग की विधिवत् पूजा और आराधना की और आरती किया । उसी समय जैसे भगवान शंकर ने उनसे कहा -- 'एक गुणवान और विद्वान् पुत्र पाओगे ।'

पंडित शिवगुरु और उनकी पत्नी कालडी लौट आये । यहाँ लौटकर भी उन्होंने पूजा तथा व्रत के नियमों में किसी प्रकार की कमी न होने दी ।

अपने गाँव आकर पंडित शिवगुरु में एक परिवर्तन स्पष्ट दृष्टिगोचर हो रहा था । अब वे प्रसन्न दिखाई देते थे— उनके चेहरे पर उल्लास और संतोष की स्पष्ट झलक दिखाई देती थी । पूजा के बाद बच्चों को प्रसाद बांटने में उनके उत्साह में अब वृद्धि हो गई थी । उनके घर की प्रत्येक वस्तु — जीव और जड़—दोनों में परिवर्तन आ चुका था । भगवान शंकर अवतार ग्रहण करने वाले थे । इसलिए प्रकृति पहले से ही वहाँ अपनी सभी कलाओं के साथ स्वागत के लिए आ गयी थी ।

और वह दिन भी आ गया, जब भगवान शंकर ने अवतार लिया । पंडित शिवगुरु का जीवन सफल हो गया । माता आर्याम्बिका की कोख पवित्र हो गई । भगवान शंकर ने पति-पत्नी को परमपद प्रदान किया । मलयालम की मनोरम धरती लहलहा उठी । पारलौकिक रूप से भगवान शंकर ने अवतार लिया था । लौकिक रूप से पंडित शिवगुरु को पुत्र-रत्न जन्मा था । संवत् ७८८ में माता आर्याम्बिका ने बच्चे को जन्म दिया । बच्चे की अनुपम सुन्दरता और सौन्दर्य को देखकर ऐसा लगता था जैसे ब्रह्मा ने इस बच्चे की सृष्टि में अपनी सम्पूर्ण कला शक्ति का उपयोग कर दिया हो ।

बच्चे की अद्‌भुत आनन्दमयी सौन्दर्य सुषमा की चर्चा दिनों-दिन बढ़ने लगी । पंडित शिवगुरु के आँगन में अब केवल प्रसाद पाने के लिए गाँव के बच्चे ही नहीं, वरन् नवजात शिशु रूप में स्वयं भगवान शंकर के बाल रूप की शोभा से अपने नेत्रों को आनन्दित करने के लिए साधु-महात्माओं और नर-नारियों की भीड़ जमा रहने लगी ।

●

शिक्षा और संन्यास

पंडित शिवगुरु को पुत्र के जन्म से अपार हर्ष हुआ। मन की उद्विग्नता समाप्त हो गई। लेकिन स्वप्न की बात से एकदम निश्चिन्त वे कभी न हो पाए। बालक के अल्पायु की बात याद आते ही वे बहुत कातर हो जाते थे। मन भीतर से कराह उठता था। किसी से कुछ कहते न थे—अशुभ बात मुंह पर लाते कैसे? लेकिन एक डर—एक शंका कभी-कभी उनके मन को अत्यन्त दुखित कर देती थी।

जीवन क्रम नियमित चलता था। पूजा-पाठ का अधिकांश काम पंडित शिवगुरु और बालक के लालन-पालन का काम माता आर्याम्बिका करती थीं। बालक को देखने मात्र से पंडित जी की शंका निर्मूल हो जाती थी। वे अपने को धिक्कारने लगते थे। बालक के अल्पायु की बात उनके मन में आई कैसे, यह सोचकर वे अपने पर खिझला उठते थे।

समय पर शास्त्र-सम्मत अनुसार बालक के नामकरण की विधिवत् व्यवस्था की गई। ज्योतिषी और आचार्य बुलाये गये। ज्योतिष की गणना से उनका नाम शंकर पड़ा। भगवान शंकर की कृपा और वरदान से बालक का जन्म हुआ था, इसलिए भी शंकर नाम विशेष प्यारा और रुचिकर लगा।

एक वर्ष का होते-होते बालक अपनी उम्र से बड़ा दिखने लगा। बालक शंकर से पिता को प्यर और अपार ममता थी। पूजा करते-करते कभी-कभी शिवलिंग में उन्हें बालक की प्रतिमा और उसे खिलाते समय कभी-कभी जब वे तन्मय हो जाते, तो उसमें आसीन भगवान शंकर का दर्शन हो जाता था। वे विचित्र अचम्भे में पड़ जाते थे। उन्हें बड़ा सुख मिलता था।

लेकिन पण्डित शिवगुरु बहुत दिनों तक वह आनन्द न ले सके। बालक जब अभी तीन वर्ष का ही हुआ था, तभी उनका स्वर्गवास हो गया। वे सदा इस शंका से भयभीत होते रहे कि कहीं अल्वायु वाली बात सत्य न हो और बालक कहीं सचमुच ही असमय में न चल बसे। इस दु:ख को सहन करने की शक्ति उनमें नहीं थी। इसलिए उन्होंने पहले ही अपना प्राण छोड़ दिया।

परिवार में अब केवल बालक शंकर और उसकी मां आर्याम्बिका थीं। माँ ने बालक की शिक्षा-दीक्षा का उचित प्रबन्ध किया। शंकर में अद्भुत मेधा और

प्रतिभा थी। एक बार पढ़ या सुन लेने से ही पाठ उन्हें कंठस्थ हो जाता था। पिता की मृत्यु के बाद शंकर को विद्याध्ययन के लिए गुरुकुल में भेजा गया। गुरुकुल में प्रवेश लेने के पूर्व पाँच वर्ष की आयु में उनका उपनयन संस्कार किया गया। पति के स्वर्गवासी हो जाने और पुत्र के गुरुकुल में दाखिल हो जाने से माता आर्याम्बिका घर में अकेली हो गई थीं। लेकिन बच्चे की पढ़ाई-लिखाई की उन्हें विशेष चिन्ता थी। शंकर के पिता की मृत्यु से उनकी जिम्मेदारी और भी बढ़ गई थी। इसलिए उन्होंने अपने अकेलेपन की कोई चिन्ता नहीं की। हालांकि पति के स्वर्गवासी होने के थोड़े ही समय बाद बच्चे के गुरुकुल जाने पर उनको बड़ा दुख हुआ।

शंकर में अलौकिक प्रतिभा थी। जब वे केवल तीन वर्ष के थे, तभी अपनी मातृभाषा मलयालम भलीभाँति सीख लिया था। गुरुकुल में आकर उन्होंने वेद और शास्त्रों का विधिवत् अध्ययन किया। उनकी प्रतिभा, सौजन्यता और विशुद्ध चरित्र से उनके गुरु उनसे बहुत प्रभावित रहते थे।

गुरुकुल में रहते समय एक दिन शंकर भिक्षा माँगने गये। वे एक घर के सामने खड़े होकर भिक्षा माँगने लगे। बालक शंकर की बोली सुनकर एक स्त्री उस घर से निकली। बालक का अद्‌भुत रूप-लावण्य देखकर वह मुग्ध हो गई। शंकर का दिव्य शरीर और उस पर ब्रह्मचारी का रूप, मानो 'सोने में सुगन्ध' की कहानी चरितार्थ कर रहा हो। वह स्त्री कभी बालक को देखती और कभी अपने घर की ओर। वह एक निर्धन ब्राह्मणी थी। भिक्षा देने के लिए उसके पास कुछ भी नहीं था। लेकिन उस बालक से वह कहे कैसे कि उस घर में भिक्षा देने लायक कोई वस्तु नहीं है। स्त्री का माँ-हृदय विह्वल और कातर हो उठा। वह फिर अपने घर में गई और उसे एक आँवला मिल गया। उसने उस आँवले को बालक शंकर की झोली में डाल दिया और संकोच तथा अपनी असमर्थता की लाज से जल्दी से घर में भागती चली गयी।

बालक शंकर से अब कुछ छिपा नहीं रहा। उस गरीब ब्राह्मणी की दशा का उन्हें ज्ञान हो गया। वह उसकी दशा से द्रवित हो गए। वहीं खड़े-खड़े उन्होंने भगवती लक्ष्मी की स्तुति की। भगवती प्रसन्न हो गई। ब्राह्मणी का घर सोने के आँवलों से भर गया। उसकी दु:ख दरिद्रता दूर हो गई।

गुरुकुल में दो वर्ष की पढ़ाई समाप्त करके बालक शंकर घर लौट आये। उन्हें वेद और शास्त्रों का पूर्ण ज्ञान हो चुका था। वे अपने घर पर ही कुछ विद्यार्थियों को पढ़ाने लगे। थोड़े ही समय में उनकी विद्वत्ता और पाण्डित्य का यश केरल के कोने-कोने में पहुँच गया।

केरल के राजा ने भी शंकर की यश गाथा सुनी। उन्होंने कई हजार स्वर्ण मुद्राएँ और मूल्यवान सामानों के साथ अपने मन्त्री को शंकर के पास उन्हें बुलाने के लिए भेजा। शंकर ने राजमहल जाने का निमन्त्रण स्वीकार नहीं किया और मुद्रायें और सामान क्षमा मांगते हुए मन्त्री द्वारा ही लौटा दिया।

केरल के राजा गुणग्राही थे। वे शंकर पर नाराज नहीं हुए। वे समझ गये कि इस छोटी अवस्था में सम्पूर्ण वेद और शास्त्रों का ज्ञान प्राप्त कर लेने वाला कोई साधारण व्यक्ति नहीं हो सकता है। अतः वे स्वयं शंकर से मिलने और उनका दर्शन करने आये। राजा भी विद्वान् पुरुष थे। उन्होंने कई नाटक और कविताएँ लिखी थीं। उन्होंने अपनी रचनायें शंकर को सुनाई। आवश्यकतानुसार शकर ने उनमें संशोधन के सुझाव दिये।

माता आर्याम्बिका का जीवन सार्थक हो गया था। पुत्र की कहानी केरल प्रदेश के गाँव-गांव में गाई जाती थी। माता का हृदय यह सुनकर अत्यन्त प्रसन्न हो जाता था। स्नान, पूजा-पाठ उनका मुख्य काम था। वे अपने काम में लगी रहती थीं और अपने पुत्र के लिए भगवान से लाख-लाख प्रार्थना करती रहती थीं। उनके जीवन में एक प्रकार का परम संतोष आ गया था। लेकिन काल के सामने तो किसी की भी नहीं चलती। धनी हो या निर्धन, काल समान रूप से सबके ऊपर अपना प्रभाव दिखाता है।

माता आर्याम्बिका का मन तो प्रसन्न था, लेकिन शरीर दुर्बल होता जाता था। बुढ़ापा अपना प्रभाव दिखाने लगा था। एक दिन माता नदी में स्नान करने गई। नदी घर से कुछ दूर पर थी। स्नान करके लौटते समय वे थककर रास्ते में गिर पड़ीं और बेहोश हो गईं। जब समय पर मां स्नान करके नहीं लौटी, तो शंकर को चिन्ता होने लगी। वे मां की खोज में निकल पड़े। रास्ते में माता को बेहोश पड़ा देख शंकर का हृदय बहुत दुःखी हो गया। वे जानते थे कि माता नदी का स्नान नहीं छोड़ेंगी और बुढ़ापा का जीर्ण-शीर्ण शरीर इतनी दूर चलने का कष्ट नहीं सहन करेगा।

मातृभक्त पुत्र शंकर मां को उठाकर घर लाये। बड़ी सेवा की। उस रात शंकर को नींद नहीं आई। वे अपने कुल देवता भगवान श्रीकृष्ण से प्रार्थना करते रहे। प्रातःकाल यह देखकर कि पूर्णा नदी का किनारा अब कालडी ग्राम के बिल्कुल पास आ गया है, सब लोग आश्चर्य में पड़ गये। मां को पूर्णा नदी में स्नान करने दूर न जाना पड़े, इसलिए शंकर ने भगवान श्रीकृष्ण से प्रार्थना किया था और भगवान की कृपा से पूर्णा नदी शकर के घर के पास से बहने लगी।

पुत्र की उम्र एक-एक दिन करके ज्यों-ज्यों बढ़ रही थी, उसी प्रकार मां के हृदय में पुत्र-वधू लाने की लालसा भी बढ़ती जाती थी। पुत्रवत्सला जननी ने शंकर की कुण्डली जब-जब बड़े-बड़े ज्योतिषियों और पंडितों को दिखलाया, तब-तब ज्योतिषियों ने कहा कि शंकर अल्पायु होंगे और आठवें तथा सोलहवें वर्ष में मृत्यु का योग है। इससे माता का कोमल हृदय आशंका से विह्वल हो उठता था। इधर शंकर आठ वर्ष के हो रहे थे। अल्पायु की बात सुनकर उनके मन की वैराग्य भावना जोर पकड़ गई। उन्होंने उसी समय संन्यास लेने का संकल्प कर लिया।

हम जन्म से ही सुनते आ रहे हैं कि ईश्वर की इच्छा बिना एक तिनका भी नहीं हिलता। ईश्वर जो काम कराना चाहते हैं, उसके लिए सभी व्यवस्था भी कर देते हैं। शंकर माता आर्याम्बिका के एकलौते पुत्र थे और वह भी मातृभक्त पुत्र। माता की आज्ञा को वेद वाक्य समझकर पालन करते थे। ऐसी स्थिति में यह सहज ही में अन्दाज लगाया जा सकता है कि इच्छा और दृढ़ संकल्प के बाद भी माता की आज्ञा प्राप्त किए बिना शंकर संन्यास ग्रहण नहीं कर सकते थे और साधारण स्थिति में माता की आज्ञा उन्हें मिल भी नहीं सकती थी। क्या इसके पूर्व आपने कभी सुना है कि लाख-लाख मनौतियों और भगवत् आराधना के बाद तो एक पुत्र हुआ और उसको अपनी ही जननी ने, और उस जननी ने, जिसके कोई दूसरा सहारा भी नहीं था, पुत्र को संन्यास ग्रहण करने की आज्ञा दी हो ? यह अभूतपूर्व घटना है।

शंकर ने माता की आज्ञा से संन्यास ग्रहण किया। यहीं पर लगता है कि ईश्वर जिस कार्य को कराना चाहते हैं, उसके लिए सभी उपकरण भी जुटा देते हैं।

एक दिन जब माता आर्याम्बिका पूर्णा नदी में स्नान करने गईं, तो शंकर भी उस दिन उनके साथ हो लिए। माता तो स्नान करके किनारे पर आ गईं और बैठ कर भगवत् नाम का जाप करने लगीं। तभी अचानक अत्यन्त कातर स्वर में शंकर चिल्लाने लगे—'मां मुझे बचाओ।' बेचारी बूढ़ी माँ अत्यन्त व्याकुल होकर इधर-उधर दौड़ने भागने लगी। लोगों को पुकारने लगी। फिर अत्यन्त घबड़ाहट और दीनतापूर्ण स्वर में शंकर चिल्लाए 'माँ जल्दी करो, अन्यथा यह मगर मुझे अब शीघ्र ही निगल जायेगा।'

आप अनुमान लगाइये, उस दुखिया माँ की मर्मान्तक पीड़ा का, जिसकी एकमात्र संतान को मगर निगलता जा रहा हो और बुढ़ापे से जर्जर उसका शरीर पुत्र की सहायता न कर पा रहा हो। अन्त में कोई दूसरा उपाय न

देखकर आर्याम्बिका स्वयं मगर से पुत्र की रक्षा के लिए जब नदी में उतरने लगीं, तो शंकर वहीं से चिल्लाये 'माँ, यह तुम क्या कर रही हो ? यह मगर तुम्हें भी पकड़ लेगा ।'

आर्याम्बिका रोते-रोते आगे बढ़ती हुई बोलीं, 'शंकर यह मगर मुझे पकड़ ले, लेकिन तुम्हें छोड़ दे ।'

शंकर जोर लगाकर बोले 'माँ, ऐसा न करो । यह मगर हमें भी न छोड़ेगा और तुम्हें भी पकड़ लेगा ।'

माता का हृदय बिलख पड़ा । वे बोलीं 'तो ठीक है शंकर, मैं तुम्हें अकेले नहीं जाने दूँगी । मैं भी तुम्हारे साथ ही चलूंगी ।' माता रोती बिलखती आगे पानी में बढ़ती जा रही थीं ।

माता को अपनी ओर नदी के जल में अबाध गति से बढ़ते देख शंकर बोले—'माँ, एक उपाय है । यदि तुम इसे मान लो, तो यह मगर मुझे छोड़ देगा और मैं बच जाऊँगा ।'

माता आर्याम्बिका वहीं रुक गईं और अत्यन्त दीनतापूर्ण स्वर में बोलीं—'तो बोलो शंकर, जल्दी बोल मैं क्या करूँ ?'

शंकर बोले—'माँ, यदि तुम मुझे संन्यासी होने की आज्ञा दे दो, तो यह मगर मुझे छोड़ देगा ।'

इस बात के परिणाम का विचार किये बिना माँ एकदम बोल पड़ी—'शंकर तुम किसी वेश में रहो, जीओ मेरे लाल ! मैं तो केवल इतना ही चाहती हूँ ।'

और मगर ने शंकर को छोड़ दिया । वे नदी के बाहर निकल आये ।

इस घटना के थोड़े दिनों बाद माँ से शंकर ने संन्यास लेने की आज्ञा माँगी । माँ एकदम बच्चे जैसे रो पड़ी । लेकिन उन्हें आज्ञा देनी ही थी । क्योंकि इसी से तो शंकर का प्राण बचा था ।

लेकिन शंकर केवल संन्यासी जीवन ही तो नहीं अपनाना चाहते थे । वे घर-बार सब कुछ छोड़ चल देना चाहते थे—उस गुरु की तलाश में, जो संन्यास की दीक्षा दे सके उन्हें ।

माँ के बहुत रोने बिलखने पर शंकर ने प्रतिज्ञा की—'माँ, तुम्हें भी किसी प्रकार का कष्ट नहीं होगा । अन्त समय में मैं तुम्हारे पास रहूँगा और तुम्हारा विधिवत् श्राद्ध अपने हाथ से करूँगा ।'

माता को आश्वासन और सान्त्वना देकर शंकर नये जीवन में दीक्षित होने के लिए निकल पड़े ।

•

संन्यासी शंकर

माता से आज्ञा प्राप्त कर संन्यास लेने के लिए शंकर जब घर से चले, उस समय उनकी उम्र केवल आठ वर्ष की थी। इस उम्र के बच्चों में कई दृष्टियों से दुधमुहों जैसी नादानी और अल्हड़पन होता है। लेकिन शंकर में तो अद्भुत प्रतिभा थी, उनमें अदम्य उत्साह था। उनके जीवन में नादानी और अल्हड़पन का कोई स्थान कभी भी नहीं था। उनके दर्शनमात्र से ऐसा आभास हो जाता था कि जैसे वे साक्षात् देवलोक के बालक हों।

घर से निकलकर उन्होंने उत्तर भारत की ओर प्रस्थान किया। गुरुकुल में शिक्षा प्राप्त करते समय उन्होंने सुना था कि योगसूत्र के महाभाष्यकार पातञ्जलि इस भूतल पर गोविन्द भगवत्पाद के नाम से अवतीर्ण हुए हैं और नर्मदा के किनारे किसी अज्ञात गुफा में समाधिस्थ हैं। इन्हीं गोविन्द भगवत्पाद को शंकर अपना गुरु बना कर उनसे वेदान्त की शिक्षा ग्रहण करना चाहते थे।

कई दिनों तक लगातार चलते-चलते शंकर थककर एक वृक्ष के नीचे विश्राम लेने लगे। उस समय सूर्य के प्रचण्ड वेग के कारण धूप तेजी पर थी। धूप की गर्मी से व्याकुल होकर उसी वृक्ष के पास एक तालाब के किनारे जीव-जन्तु आ गये थे। वहीं पर कुछ मेढक के बच्चे भी थे। वे गर्मी से व्याकुल होकर तालाब में प्रवेश कर जाते और थोड़ी शीतलता प्राप्त कर लेने के बाद फिर बाहर आ जाते थे। उसी समय एक काला नाग कहीं से आया और मेढक के बच्चे को धूप की कड़ी तपन से बचाने के लिए उनके ऊपर अपना फण फैलाकर उनकी रक्षा करने लगा। इस दृश्य का शंकर के मन पर बहुत अच्छा और अमिट प्रभाव पड़ा। उनके हृदय में इस स्थान की पवित्रता की बात जम गई।

उसी तालाब के सामने एक पहाड़ी टीला था और उस पर चढ़ने की सीढ़ियाँ भी बनी हुई थीं। शंकर उन्हीं सीढ़ियों से ऊपर चढ़ गये। वहाँ उन्होंने ऊपर जाकर एक निर्जन कुटी में बैठे एक तपस्वी को देखा। उन्हीं तपस्वी महात्मा ने शंकर को बतलाया कि यह श्रृंगी ऋषि का पावन आश्रम है। यहाँ सदा शान्ति विराजती और जीव-जन्तु अपना स्वाभाविक वैरभाव भूलकर शान्ति से सुखपूर्वक रहते हैं।

तपस्वी की बात और जो दृश्य नीचे तालाब के किनारे उन्होंने देखा था, इन दोनों का शंकर के मन पर गहरा प्रभाव पड़ा। उन्होंने संकल्प किया कि 'मैं अपना पहला मठ इसी शान्त और पावन तीर्थ में बनाऊँगा।' कुछ वर्षों के बाद शंकर ने इसी स्थान पर एक मठ बनाया। वह आज शृंगेरी मठ के नाम से प्रसिद्ध है।

उस स्थान पर विश्राम के बाद शंकर की यात्रा फिर आरम्भ हुई। नदियों और पर्वतों को पार करते हुए वे नर्मदा के किनारे पहुँचे। ईश्वर की कृपा से वे उस स्थान तक पहुँच गये, जहाँ भगवत्पाद गोविन्दाचार्य एक गुफा में अखण्ड समाधि लगाये अपनी साधना में रत थे। समाधि भंग होने पर शंकर ने उन्हें प्रणाम किया और अपने आने का उद्देश्य बताया।

शंकर की प्रतिभा और उनकी सौजन्यता का गोविन्दाचार्य पर गहरा प्रभाव पड़ा। इतनी छोटी उम्र के बालक में इतना प्रकाण्ड पांडित्य देखकर गोविन्दाचार्य गद्‌गद हो गये। उन्होंने शंकर को अपने आश्रम में रहने और शिक्षा प्राप्त करने की अनुमति दे दी। शंकर तीन वर्षों तक यहाँ रहे। उपनिषद् और ब्रह्मसूत्रों का विशेष अध्ययन उन्होंने यहाँ किया। गोविन्दाचार्य ने शंकर को अद्वैत वेदान्त के सिद्धान्त को बड़ी सुगमता से बतलाया। संन्यास की भी दीक्षा शंकर को गोविन्दाचार्य ने दी।

वेद, शास्त्र, उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र, अद्वैत सिद्धान्त आदि का पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर और संन्यास की दीक्षा लेकर शकर अब आचार्य शंकर हो गये। इन्हीं को संसार विश्वविख्यात जगद्‌गुरु आदि शंकराचार्य के नाम से जानता है।

गोविन्दाचार्य के आश्रम में शंकर के रहते हुए नर्मदा में एक बार जोर की बाढ़ आई। लगातार कई दिनों तक पानी बढ़ता ही गया। गुरु जी गुफा में समाधि लगाये साधना में लीन थे। उनकी शिष्य मण्डली में घोर चिन्ता व्याप्त थी—'यदि नर्मदा का जल इसी प्रकार बढ़ता गया और गुफा में प्रवेश कर गया, तो गुरु जी की रक्षा न हो सकेगी'—शिष्य गण चिन्तातुर और भयविह्वल हो रहे थे।

शंकर ने अपने सहपाठियों की व्यग्रता देखकर उन्हें आश्वासन देते हुए एक घड़े को अभिमन्त्रित करके गुफा के द्वार पर रख दिया। नर्मदा का जल बढ़ता गया। गुफा के द्वार पर जितना जल आया, सब का सब घड़े के भीतर प्रवेश करता गया। किन्तु गुफा के अन्दर उसका प्रवेश न हो सका। गुरु जी

की रक्षा हो गई। लोगों को बड़ा अचरज हुआ। शंकर के इस चमत्कारिक कार्य को देखकर लोगों की उनमें अपार श्रद्धा हो गई।

भगवत्पाद गोविन्दाचार्य जी जब समाधि से उठे और उन्हें सविस्तार सब घटना बताई गई, तो उन्हें अपार हर्ष हुआ। उन्होंने बतलाया कि एक बार व्यास जी ने उन्हें बताया था कि जो व्यक्ति एक घड़े के भीतर नदी के विशाल जलराशि को भर देगा, वही उनके ब्रह्मसूत्रों की यथावत् व्याख्या करने में समर्थ हो सकेगा।

शंकराचार्य को सम्बोधित करते हुए उन्होंने कहा—'वत्स ! यह घटना तुम्हारे बारे में चरितार्थ हो रही है। काशी जाकर तुम विश्वनाथ जी के दर्शन करो और महामुनि व्यास जी की इच्छा की पूर्ति के लिए उद्योग करो।' यह कहकर गोविन्दाचार्य ने प्रसन्नतापूर्वक शंकराचार्य को विदा किया।

काशी आकर शंकराचार्य ने मणिकर्णिका घाट के समीप एक स्थान पर निवास करना प्रारम्भ कर दिया। नित्य नियमपूर्वक गंगा स्नान करके वे विश्वनाथ जी और अन्नपूर्णा जी का दर्शन करके पठन-पाठन का काम करते थे। उनकी अद्‍भुत विद्वत्ता की बात थोड़े ही दिनों में काशी और दूर-दूर के स्थानों में फैल गई। काशी का विद्वत् पण्डित समाज उनके प्रकाण्ड पाण्डित्य और विशुद्ध चरित्र से बहुत प्रभावित हुआ। परिणामस्वरूप काशी के अच्छे अच्छे विद्यार्थी उनके शिष्य हो गये।

एक दिन शंकराचार्य अपने शिष्यों सहित गंगा स्नान के लिए जा रहे थे। रास्ते में चार कुत्ते को लिए हुए एक चाण्डाल सामने खड़ा था। जब इन गुरु-शिष्यों को देखकर भी रास्ते से वह न हटा तो शंकराचार्य ने उससे रास्ते से हटकर अलग खड़े होने को कहा। लेकिन उसने कोई ध्यान नहीं दिया। जब उन्होंने कई बार रास्ते से उसे हट जाने को कहा, तो चाण्डाल ने कहा—'आप संन्यासी हैं और मैं श्वपच। इसीलिए न आप मुझसे रास्ते को छोड़-कर दूर खड़ा होने को कहते हैं कि कहीं आपका शरीर मुझसे छू न जाय ? आप विद्यार्थियों को अद्वैत-तत्व की शिक्षा देते हैं। अद्वैत सिद्धान्त के अनुसार इस जगत का कोना-कोना ब्रह्म से व्याप्त है। वही ब्रह्म आप में भी है और मुझ में भी। फिर इतने बड़े आचार्य होकर इतनी हीन भावना आपके मन में आई कैसे ?'

उस चाण्डाल की बात सुनकर शंकराचार्य के आश्चर्य का ठिकाना न रहा। उन्होंने विचार किया और सोचा कि यह व्यक्ति ठीक ही तो कहता है। ब्रह्म

तो एक है और वही ब्रह्म जन-जन में व्याप्त है। उसी ब्रह्म की माया कीड़े-मकोड़े जैसे छोटे-छोटे जीवों में भी व्याप्त है। यह चाण्डाल रूपी कोई विशेष पुरुष है। लेकिन यदि यह चाण्डाल भी है तो भी मेरा गुरु है।

शंकराचार्य के मन में ज्योंही यह विचार आया, भगवान विश्वनाथ चाण्डाल का रूप त्यागकर अपने दिव्य रूप में प्रकट हो गये। उन्होंने कहा "मैं तुम से प्रसन्न हूँ। मेरी इच्छा है कि तुम्हारे द्वारा वैदिक धर्म का प्रचार और उसकी सुदृढ़ स्थापना इस जगत में करूँ। तुम व्यास जी के ब्रह्मसूत्रों का भाष्य तैयार करो। तुम्हारे इस शरीर से जो कार्य होगा, उसे मेरा ही कार्य समझो।"

इतना कहकर भगवान विश्वनाथ अन्तर्ध्यान हो गये। इस घटना से शङ्कराचार्य के शिष्यों को बड़ा विस्मय हुआ। कुछ ही क्षण पहले उसके सामने जो चाण्डाल अपने कुत्तों के साथ था, वह पलक मारते ही लोप हो गया। वहाँ अब न तो वे कुत्ते थे और न उनका स्वामी वह श्वपच।

शिष्यों सहित शङ्कराचार्य ने गंगा स्नान करके विश्वनाथ जी का दर्शन किया और नित्य की भाँति वे उन्हें पढ़ाने में व्यस्त हो गये। लेकिन उसी समय से उनके मन में ब्रह्मसूत्रों का भाष्य लिखने की इच्छा बलवती होती गई। बदरिकाश्रम के पास ही "व्यासगुहा" है। वहीं रहकर व्यास जी ने ब्रह्मसूत्रों की रचना की थी। शङ्कराचार्य ने उसी पवित्र पावन वायुमण्डल में जाकर भाष्य लिखने का निश्चय किया।

शङ्कराचार्य के प्रधान शिष्य सनन्दन थे। वे कोल प्रदेश के निवासी थे। विद्याध्ययन के लिए काशी में रहते थे। शंङ्कराचार्य के काशी आने और उनकी ख्याति बढ़ते हुए देखकर वे उनकी तरफ आकृष्ट हुए। सम्पर्क में आने पर उनकी महान् प्रतिभा का उन पर बहुत प्रभाव पड़ा और उनके वे शिष्य हो गये। शङ्कराचार्य जब काशी से बदरिकाश्रम जाने लगे तो सनन्दन और उनके अन्य सहपाठी भी उनके साथ हो लिये। कुछ युवक और वृद्ध संन्यासी भी इन लोगों के साथ चल दिये। बड़ी मनोहारिणी छटा बन गई थी। बालक संन्यासी शङ्कराचार्य के नेतृत्व में उनके शिष्यों सहित कुछ दूसरे संन्यासियों को इस मण्डली के दर्शन हेतु रास्ते में लोगों की भीड़ जमा हो जाती थी। लोग इनका दर्शन कर अपने जीवन को सफल बनाते थे।

जिस समय की यह बात है, उस समय यात्रा के साधन का सर्वथा अभाव था। आजकल की तरह कोई सुविधा नहीं थी। नदी मार्ग से नावें अवश्य चलती थीं, लेकिन उनका गन्तव्य थोड़ी-थोड़ी दूर का ही होता था। नावों का मुख्य

कार्य लोगों को नदी के एक किनारे से दूसरे किनारे तक पहुँचाना था। ऐसी स्थिति में कोई दूर की यात्रा नहीं करता था। साधारण व्यक्ति तो यात्रा का नाम भी नहीं ले सकता था। विशेष रुचि, अदम्य उत्साह और प्रतिभा के धनी व्यक्ति ही दूर की यात्रा का विचार कर सकते थे।

शङ्कराचार्य के साथ यात्रा करने वाले सभी लोगों में बहुत उत्साह था। तीर्थ दर्शन की इच्छा थी। वे मन में अपना उद्देश्य निश्चित कर चुके थे। इसलिए उन्हें पग-पग पर आनन्द का अनुभव होता था। कुछ समय की यात्रा के बाद ये लोग हरिद्वार पहुँचे। वहाँ कुछ दिनों तक निवास करने के बाद ऋषिकेश गये। ऋषिकेश में बहुत समय पूर्व ऋषियों ने भगवान विष्णु की मूर्ति स्थापित की थी। उसी की पूजा अर्चना यहाँ होती थी। शङ्कराचार्य ने विष्णु मन्दिर देखा। लेकिन वह मूर्ति जिसे ऋषियों ने स्थापित किया था, वहाँ नहीं थी। स्थानीय लोगों ने बतलाया कि चीनी डाकुओं के भय से मूर्ति अमुक स्थान में गंगा नदी में छिपा दी गयी थी। कुछ काल के बाद बहुत खोजने पर वह मूर्ति नहीं मिली। तब उन्होंने स्वयं उस मूर्ति की तलाश की और उनके प्रयत्नों से वह मिल गई। भगवान विष्णु की उस मूर्ति की विधिवत् स्थापना करके शङ्कराचार्य यात्रा में आगे बढ़े।

ये जब की घटनाएँ हैं, तब से अब तक लगभग बारह सौ वर्ष बीत चुके हैं। हाल के वर्षों में देश के बीहड़ स्थानों एवं मार्गों को सुधारने का कुछ-न-कुछ प्रयत्न हमेशा होता रहा है। बदरिकाश्रम जाने का मार्ग बहुत ठीक हो गया है और वहाँ पहुँचने के बहुत से साधन भी बनाये गये हैं। किन्तु रास्ता अब भी बीहड़ है। अन्य स्थानों की अपेक्षा वहाँ पहुँचने के लिए दुर्गम और बीहड़ स्थानों एवं घाटियों को पार करना पड़ता है। तब आप उस समय का अनुमान लगाइये, जब प्रकृति के उस भू-भाग में ऋषि-मुनियों को छोड़कर आदम की कोई सन्तान उधर नहीं गई थी। जाने के रास्ते बने नहीं थे और दुर्गम घाटियों से जाना अत्यन्त कठिन था, इसलिए लोग उधर जाने का साहस ही नहीं करते थे।

शङ्कराचार्य उन्हीं दुर्गम एवं दुरूह घाटियों और जंगलों को पार करते-करते एक दिन अपने शिष्यों और प्रेमियों सहित बदरिकाश्रम पहुँच गये। यहाँ पहुँच कर उनको अलौकिक आनन्द का अनुभव हुआ। रास्ते की थकावट का कोई चिह्न उनके चेहरे पर नहीं था। अद्भुत आनन्दपूर्ण आभा उनसे मुखमण्डल पर विराज रही थी। हिमालय ने अपनी भुजा फैलाकर इस बालक संन्यासी

का सत्कार किया और उनके स्वागत में प्रकृति सुन्दरी ने अक्षय भंडार अर्पण कर दिया।

शंकराचार्य ने यहाँ आनन्दपूर्वक रहना प्रारम्भ किया। घूम घूम कर तीर्थ-स्थानों को देखा। लेकिन यहाँ के मुख्य मन्दिर में भगवान विष्णु की मूर्ति को न देखकर उन्हें बड़ा दुःख हुआ। पता लगाने पर ज्ञात हुआ कि चीन के आक्रमणकारी यहाँ तक लूटमार करने कभी-कभी आ जाया करते थे। भगवान की मूर्ति को व न उठा ले जाएँ, इस डर से पुजारियों ने मूर्ति को नारद कुण्ड में डाल दिया था; किन्तु बाद में बहुत खोज करने पर भी वह मूर्ति उन्हें न मिली थी।

शङ्कराचार्य स्वयं मूर्ति को खोजने नारद कुण्ड में उतरे। पुजारियों ने बहुत समझाया कि नारद कुण्ड का सम्बन्ध अलकनन्दा के साथ है। कुण्ड के भीतर जाने में प्राणहानि तक का भय है। लेकिन वे एक न माने और कुण्ड के भीतर प्रवेश कर गये। डुबकी लगाने पर उनके हाथ में पत्थर का एक टुकड़ा लगा। बाहर आकर उन्होंने देखा कि वह साक्षात् भगवान विष्णु की मूर्ति है। भगवान पद्मासन से बैठे थे। लेकिन मूर्ति का दाहिना कोना टूटा था।

उन्होंने विचार किया कि विष्णु की मूर्ति खण्डित नहीं हो सकती। अतः उसे उन्होंने गंगा जी में डाल दिया और नारद कुण्ड में फिर गोता लगाया। लेकिन फिर उनके हाथ वही मूर्ति लगी। तीसरी बार भी ऐसा ही हुआ। तब उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ। वे विचार में पड़ गये। उसी समय आकाशवाणी हुई कि कलिकाल में इसी मूर्ति की पूजा होनी चाहिए। अतः शङ्कराचार्य ने स्वयं वैदिक रीति से इस मूर्ति की स्थापना मन्दिर में की और उसकी पूजा-अर्चना का प्रबन्ध किया।

शङ्कराचार्य ने उस समय यह अनुभव कर लिया कि वहाँ के स्थानीय ब्राह्मणों में वेदाध्ययन का सर्वथा अभाव था और पूजा तथा आराधना की वैदिक रीतियों से वे ब्राह्मण अनभिज्ञ थे। जब उन्होंने यह अच्छी तरह देख लिया कि उनके द्वारा वैदिक रीति से पूजा का कार्यक्रम नहीं चल सकता, तो अपने सजातीय नम्बूदरी ब्राह्मण को बदरीनाथ की पूजा के लिए नियुक्त किया। शङ्कराचार्य द्वारा स्थापित पूजा की विधि और नियम आज भी बदरीनाथ में अक्षुण्ण रूप से काम में लाये जाते हैं और आज भी केरल प्रदेश से नम्बूदरी ब्राह्मण ही बदरीनाथ की पूजा के लिए नियुक्त होते हैं। इन पुजारियों को रावलजी कहते हैं।

कुछ समय बाद शङ्कराचार्य ने इसी स्थान से कुछ दूर नीचे ज्योतिर्पीठ की स्थापना की थी। आजकल इसे जोशी मठ भी कहते हैं।

●

व्यास दर्शन

बदरिकाश्रम के आस-पास के सभी तीर्थ स्थानों को देख लेने के बाद आचार्य शङ्कर व्यास गुहा में बैठकर ब्राह्मसूत्रों का भाष्य लिखने लगे। लेकिन दूसरे कामों में भी उन्होंने किसी प्रकार की शिथिलता न आने दी। अपने शिष्यों को पहले की ही तरह तन्मयता से पढ़ाते भी थे। जब शङ्कराचार्य बारह वर्ष के थे, उस समय वे यहाँ आये थे और सोलह वर्ष की उम्र को पहुँचते-पहुँचते उन्होंने ब्रह्मसूत्रों का भाष्य लिखकर समाप्त कर दिया। इस भाष्य द्वारा ब्रह्म-सूत्रों को समझने में सुविधा हो गई और अद्वैत सिद्धांत के प्रचार एवं प्रसार में भी सुगमता मिली।

शङ्कराचार्य भाष्य लिखते और सर्वप्रथम इस रचना का उपयोग अपने शिष्यों पर ही करते थे। उनके शिष्यों में सबसे मेधावी सनन्दन थे। उनकी प्रतिभा से आचार्य शङ्कर बड़े प्रसन्न रहते थे। सनन्दन को गुरु जी ने तीन बार अपना भाष्य पढ़ाया। इसलिए शङ्कराचार्य के बाद सनन्दन का अद्वैत सिद्धान्त विश्वस्त आचार्य माना गया है।

सनन्दन बड़े गुरुभक्त शिष्य थे। एक बार की बात है कि सनन्दन आश्रम से कुछ दूर अलकनन्दा के उस पार किसी कार्यवश गये हुये थे। उसी समय शङ्कराचार्य ने बड़े करुण शब्दों में उन्हें पुकारा। सनन्दन ने समझा कि आचार्य किसी कठिनाई अथवा विपत्ति में पड़ गये हैं। यह सोचकर वे यहाँ से दौड़ पड़े। लेकिन बीच में अलकनन्दा नदी बहुत वेग से बह रही थी और उसमें अथाह जल था। सनन्दन वेग से बहती उस नदी के अथाह जल में कूद पड़े। तत्काल जल का वेग समाप्त हो गया। उसमें पूर्ण स्थिरता आ गई और सनन्दन के पैरों के नीचे कमल उग आये। उनके चरण जैसे-जैसे आगे बढ़ते जाते, कमल वहाँ पहले ही उगा होता। परिणामस्वरूप सनन्दन कमल के फूलों पर चरण रखकर अलकनन्दा पार कर आश्रम पहुँचे।

वहाँ पहुँचकर उन्होंने गुरु से पूछा कि "क्या आपने मुझे बुलाया है?" आचार्य शङ्कर सनन्दन से बहुत प्रसन्न हुए। सनन्दन के सहपाठियों को अलकनन्दा वाली घटना से बड़ा आश्चर्य हुआ। लेकिन शङ्कराचार्य सब बातें सुनकर केवल मन्द-मन्द मुस्कराते रहे। क्योंकि उनकी तो दिव्यदृष्टि थी और सभी घटनाओं

का आदि-अन्त वे सब जानते थे। चरणों के नीचे कमल उग आने के कारण उसी समय से सनन्दन का नाम पद्मपाद पड़ा और वे इसी नाम से विख्यात हुए।

शङ्कराचार्य को बदरिकाश्रम में आये लगभग चार वर्ष हो गए थे। भाष्य की रचना समाप्त कर वे शिष्यों सहित केदारनाथ पहुँचे। बदरिकाश्रम की अपेक्षा यह स्थान अधिक ठंडा और निर्जन था। इसके पास ही स्वर्गारोहण पर्वत है। यहीं से पाण्डवों ने स्वर्ग के लिए महाप्रस्थान किया था। केदारनाथ क्षेत्र की ठंड से शिष्य लोग व्याकुल हो गये। शिष्यों की दशा का ज्ञान कर शङ्कराचार्य ने अपनी योगदृष्टि से उस स्थान का पता लगाया, जहाँ गरम धारा बहती थी। उस तप्तकुण्ड के मिल जाने से शिष्यों को बड़ी शान्ति मिली।

यहीं रहते हुए शङ्कराचार्य ने गंगोत्री के लिए प्रस्थान किया। उन दिनों वे कुछ अनमनस्क भी हो गये थे। वास्तव में उस समय वे सोलहवाँ वर्ष पूर्ण करने वाले थे और जन्मकुण्डली के अनुसार सोलहवें वर्ष में उनकी मृत्यु का योग था। इसलिए भीतर से उनका उत्साह कम हो रहा था। लेकिन उसी समय एक विचित्र घटना घटी और मृत्यु का योग टल गया। उसी समय सोलह वर्ष की आयु उन्हें और मिली।

घटना इस प्रकार है। आचार्य शङ्कर उन दिनों उत्तरकाशी में रहते थे और अपने शिष्यों को ब्रह्मसूत्र भाष्य पढ़ाया करते थे। प्रातःकाल एक दिन एक ब्राह्मण देवता वहाँ आकर उपस्थित हो गये और शंकराचार्य से पूछने लगे कि तुम क्या पढ़ रहे हो? शङ्कराचार्य एकदम चुप रहे। वे ध्यानमग्न होकर आगन्तुक के बारे में जानने की चेष्टा करने लगे। उस समय शङ्कराचार्य के स्थान पर उनके शिष्यों ने उत्तर दिया—"महाराज! ये हमारे गुरु समस्त वेद, शास्त्र और उपनिषदों के मर्मज्ञ हैं। इन्होंने व्यासकृत ब्रह्मसूत्रों का भाष्य लिखा है।" ब्राह्मण आश्चर्य से बोल उठे—"अच्छा, इस कलियुग में ऐसा कौन व्यक्ति है जो भगवान व्यास जी के ब्रह्मसूत्रों का मर्म ठीक-ठीक जान जाय और उनका भाष्य लिख दे। मैं तो ऐसे व्यक्ति की खोज में हूँ। यदि तुम्हारे गुरु ऐसे ज्ञाता हैं तो मेरे मन में ब्रह्मसूत्र को लेकर जो जिज्ञासा उठी है, उसका समाधान कर दें।"

शङ्कराचार्य से अब तक छिपा न रहा कि आगन्तुक ब्राह्मण देवता कौन हैं। उन्होंने मन-ही-मन उन्हें प्रणाम किया और अत्यन्त विनम्रता से बोले—"मैं इन ब्रह्मसूत्रों की पूर्ण जानकारी का कोई अभिमान नहीं करता। फिर भी आप

जो पूछेंगे और इस सम्बन्ध में मेरा जो ज्ञान है, उससे मैं आपको सन्तुष्ट करने की कोशिश करूँगा।"

तदन्तर ब्राह्मण ने ब्रह्मसूत्रों के सम्बन्ध में कई प्रश्न किये। कठिन-से-कठिन प्रश्न पूछे। सब का समुचित उत्तर उन्हें मिला। वे मन-ही-मन बहुत प्रसन्न हुए और उन्हें बड़ा सन्तोष हुआ। लेकिन प्रश्नों और शंकाओं की शृंखला समाप्त नहीं हुई। ब्राह्मण एक शंका के बाद दूसरी शंका उपस्थित करते जाते और शङ्कराचार्य उसका समाधान करते जाते। अपने प्रश्नों का उचित उत्तर प्राप्त कर उस ब्राह्मण को परम प्रसन्नता हुई। उन्हें इस बात से अत्यन्त सन्तोष हुआ कि ब्रह्मसूत्रों का भाष्य निश्चय ही अधिकारी व्यक्ति द्वारा लिखा गया है।

शङ्कराचार्य ने जब जान लिया कि ब्राह्मण देवता उनके भाष्य से सन्तुष्ट हैं और उनको परम संतोष है, तो उन्होंने उनसे असली रूप में प्रकट होने की प्रार्थना की। तब बादनारायण भगवान व्यास जी ने अपना भव्य रूप दिखाया। शिष्यों सहित शङ्कराचार्य ने उनकी पूजा-अर्चना की। व्यास जी बहुत प्रसन्न हुए। उसी समय उन्होंने शङ्कराचार्य को सोलह वर्ष की और आयु प्रदान की और आशीर्वाद दिया।

भगवान व्यास जी शङ्कराचार्य को उस समय के प्रकाण्ड विद्वान् कुमारिल भट्ट को अपने मत में लाने की प्रेरणा देकर अन्तर्ध्यान हो गये। कुमारिल भट्ट वेदों के ज्ञाता एवं मर्मज्ञ थे और भारत के विद्वत् समाज पर उनकी धाक छाई हुई थी। शङ्कराचार्य के साथ उनके आ जाने से अद्वैत सिद्धान्त के प्रचार की गति दूनी तेज हो जाती। इसी विचार से व्यास जी ने शङ्कराचार्य को यह प्रेरणा दी थी।

•

शंकराचार्य और कुमारिल भट्ट

भगवान व्यासदेव शङ्कराचार्य को कुमारिल भट्ट से मिलने का आदेश देकर अन्तर्ध्यान हो गये। उसी समय से शङ्कराचार्य की कुमारिल भट्ट से मिलने की इच्छा तीव्र होती गयी। वहाँ आने वाले तीर्थ यात्रियों से शङ्कराचार्य को ज्ञात हुआ कि कुमारिल भट्ट उस समय प्रयाग में त्रिवेणी तट पर विराजमान थे। वे अविलम्ब प्रयाग के लिए चल पड़े।

शङ्कराचार्य की ही तरह कुमारिल भी प्रकाण्ड पंडित और आचार्य थे। उन्होंने कई धर्म ग्रन्थों की रचना की थी। जिस समय भारत भूमि पर कुमारिल का अविर्भाव हुआ, उस समय यहाँ बौद्ध धर्म का विशेष प्रभाव था। बौद्ध भिक्षु महात्मा गौतम बुद्ध का संदेश गाँव-गाँव पहुँचा चुके थे। पूर्ववर्ती राजाओं से लेकर उस काल तक राजाश्रय पाने के कारण बौद्ध धर्म प्रभावशाली हो गया था। बौद्ध भिक्षु और बौद्ध धर्म के आचार्य वैदिक धर्म और वेद-उपनिषदों पर आक्षेप करके इन्हें जनता की दृष्टि में महत्त्वहीन और सारहीन प्रमाणित करने में लगे रहते थे। वैदिक धर्म को इनके ऐसे कार्यों से क्षति भी पहुँची थी। कुमारिल भट्ट और शङ्कराचार्य भारतीय धर्म-गगन में दो ऐसे देदीप्यमान रत्न अवतरित हुए, जिन्होंने अपने पाण्डित्यपूर्ण ग्रन्थों के प्रकाश से वैदिक धर्म सम्बन्धी फैलाये गये बौद्धों के भ्रमपूर्ण प्रचार से इस देश को बचाया।

कुमारिल भट्ट के जन्म-स्थान के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। कुछ लोग उन्हें उत्तर भारत का और कुछ लोग दक्षिण भारत का बताते हैं। जो विद्वान् कुमारिल को उत्तर भारत का बताते हैं, वे अपने कथन की पुष्टि में कई गम्भीर प्रमाण देते हैं। उनके प्रमाण काफी ठोस हैं और सहसा उनको अस्वीकार नहीं किया जा सकता। इसलिए ऐसा ज्ञात होता है कि कुमारिल भट्ट उत्तर भारत में ही पैदा हुए थे।

कुमारिल भट्ट के सम्बन्ध में कई रोचक कहानियाँ प्रचलित हैं। इन कहानियों से कभी-कभी तो यह शङ्का हो जाती है कि कुमारिल भट्ट वैदिक धर्मशास्त्र के समर्थक न होकर विरोधी थे। लेकिन वास्तव में ऐसी बात नहीं थी। वे शङ्कराचार्य की ही तरह वैदिक साहित्य और धर्म के प्रबल समर्थक थे।

कुमारिल के समय में बौद्धों का बड़ा जोर था। हालाँकि बौद्ध भिक्षुओं की दुर्बलताओं के कारण उन्हीं दिनों उनकी निन्दा भी होने लगी। महात्मा

गौतम बुद्ध ने बौद्ध संन्यासियों के लिए जो आचार संहिता स्वीकार की थी, उन्हें त्याग कर बौद्ध भिक्षु समाज में निन्दा और अपमान के पात्र हो गये थे। बड़े-बड़े संन्यासियों ने भिक्षा का सहारा छोड़कर अपने लिए बड़े-बड़े मठ बनाकर उनमें धन जमा कर लिया था और सुख-सुविधा की सामग्री भी इकट्ठी कर ली थी। यही नहीं, स्त्रियों का प्रवेश भी बौद्ध मठों में हो गया था। स्त्रियों के संसर्ग में आकर बौद्ध संन्यासियों का चरित्र दूषित हो गया था और इस कारण उनकी निन्दा होने लगी थी।

बौद्ध धर्म की इसी जीर्ण शीर्ण स्थिति की अवस्था में कुमारिल भट्ट का प्रादुर्भाव हुआ था। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि उस समय बौद्ध धर्म के अच्छे ज्ञाता ही नहीं थे। उन दिनों भी बौद्ध साहित्य और बौद्ध धर्म का काफी प्रभाव था। कई तो बौद्ध धर्म के ऐसे आचार्य थे, जिनका देश भर में सम्मान था और बौद्ध धर्म विरोधी भी उनका आदर करते थे।

धर्मकीर्ति एक ऐसे ही बौद्ध धर्म तथा साहित्य के ज्ञाता एवं प्रकाण्ड विद्वान् और नालन्दा विद्यापीठ में प्रधान आचार्य थे। वे वैदिक कर्मकाण्ड और वेद शास्त्रों के परम विरोधी थे तथा वेदों के विरोध में प्रचार करते थे।

कुमारिल भट्ट ने सोचा कि बौद्धों के समाज में प्रवेश लेकर बौद्ध धर्म और साहित्य की सम्पूर्ण बातें विधिवत् जान लेने के बाद ही उचित प्रकार से बौद्धों के भ्रष्ट प्रचार से वैदिक धर्म की रक्षा की जा सकती है। अतः वे उस समय के प्रसिद्ध नालन्दा विद्यापीठ में विद्यार्थी बनकर आ गये और शिक्षा प्राप्त करने लगे। एक दिन धर्मकीर्ति अपने विद्यार्थियों को पढ़ाते-पढ़ाते वेदों की निन्दा करने लगे। उनके मुँह से वेद निन्दा सुनकर कुमारिल भट्ट के आँखों से आँसू की अविरल धारा बहने लगी। पास बैठे एक विद्यार्थी ने यह देखकर धर्मकीर्ति को सूचना दे दी। धर्मकीर्ति ने कुमारिल भट्ट से पूछा—'तुम्हारी आँखों से यह अश्रुधारा कैसी? क्या वेदों की निन्दा तुम्हें अच्छी नहीं लगी?'

कुमारिल ने उत्तर दिया—'वेदों के अर्थ और रहस्य को समझे बिना ही आपने निन्दा किया, इसलिए दुःख मुझे हुआ गुरुदेव!'

कुमारिल की बात सुनकर धर्मकीर्ति बहुत नाराज हुए। उन्होंने अपने शिष्यों से कुमारिल को वहाँ से निकाल देने की आज्ञा दे दिया। गुरु की आज्ञा पाते ही उत्साही शिष्य भला इस सुअवसर को कैसे हाथ से जाने देते। उन्होंने कुमारिल को वहाँ से केवल निकालने के बजाय, पास की एक पहाड़ी में उन्हें

ढकेल दिया। वहाँ से गिरते समय कुमारिल ने वेदों से अपने बचाव के लिए प्रार्थना किया। उनको कोई चोट नहीं आई। यह देखकर वहाँ उपस्थित सभी व्यक्ति आश्चर्यचकित हो गये।

शङ्कराचार्य से अपनी आत्मकथा कहते समय स्वयं कुमारिल भट्ट ने यह बात उनसे कही थी। उन्होंने स्वीकार किया—"किसी भी शास्त्र का खंडन करने के लिए उसका पूर्ण ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है। मुझे बौद्धों द्वारा वेद सम्बन्धी फैलाये गये कुप्रचार का बड़ा दुःख था। मुझे बौद्ध धर्म की धज्जियाँ उड़ानी थी। इसलिए इस धर्म के खिलाफ कुछ कहने के पूर्व मैंने विधिवत् और मनोयोग से इस धर्म को पूर्ण रूप से समझने का प्रयत्न किया। अतः मैं बौद्धों की शरण में गया और बौद्ध धर्म का विधिवत् एवं पूर्ण रूपेण ज्ञान प्राप्त किया।"

शङ्कराचार्य अपने शिष्यों सहित भारत के सभी प्रमुख तीर्थस्थानों में गये और जहाँ भी गये, वहाँ के आचार्यों, पंडितों एवं विद्वानों से मिले। कुमारिल भट्ट की विद्वत्ता की बात प्रायः सभी ने स्वीकार किया। वैदिक और बौद्ध दोनों धर्मों के उनके समान ज्ञान से कभी-कभी तो लोग निश्चित नहीं कर पाते थे कि कुमारिल की आस्था बौद्ध धर्म में थी या वैदिक धर्म में। लेकिन वास्तव में वे वैदिक धर्मी थे और बौद्ध धर्म का विधिवत् अध्ययन उन्होंने केवल बौद्धों को परास्त करने के उद्देश्य से ही किया था।

बौद्ध धर्म का विधिवत् ज्ञान प्राप्त कर लेने के बाद कुमारिल भट्ट बौद्धों को परास्त करने के उद्देश्य से देश भर में घूम-घूम कर बौद्ध मठाध्यक्षों, बौद्ध आचार्यों और बौद्ध धर्म प्रचारकों को शास्त्रार्थ के लिए निमंत्रण देते और उन्हें परास्त कर देते थे। उनके इस कार्य से बौद्धों में खलबली मच गई।

बौद्धों को परास्त कर वैदिक धर्म का झंडा ऊँचा रखने के उद्देश्य अभियान में कुमारिल भट्ट भ्रमण करते-करते राजा सुधन्वा के राज्य कर्नाटक गए। एक दिन प्रातः काल कुमारिल भट्ट राजधानी के मुख्य मार्ग से चलते-चलते राजमहल के सामने पहुँचे। उस समय उन्होंने देखा कि राजमहल के एक झरोखे के सामने पास खड़ी एक महिला चिन्तातुर स्वर में कह रही थी—"क्या करूँ, कहाँ जाऊँ। वेदों का उद्धार कौन करेगा।" दीनता भरी यह पुकार सुनकर वे खड़े हो गये और उस महिला को आश्वस्त करते हुए बोले—"आप चिन्ता न कीजिए। मैं कुमारिल भट्ट पृथ्वी पर विद्यमान हूँ और वेदों का उद्धार कर आपकी चिन्ता दूर करूँगा।"

चिन्ता करने वाली वह महिला कोई अन्य नहीं, स्वयं राजा सुधन्वा की रानी थीं। राजा सुधन्वा स्वयं विद्वान् थे और मानसिक रूप से वेदों में उनकी श्रद्धा थी, किन्तु जैन धर्मी संन्यासियों ने राजा के ऊपर अपना प्रभाव जमा लिया था और उन दिनों उस राज्य में उनका बोलबाला था। राजा अनिच्छा से उनकी बातें सुनता और उन्हें मनमानी करने देता था।

वेदों के बारे में बौद्धों और जैनियों में कोई अन्तर नहीं था। दोनों समान रूप से वेदों की निन्दा करते थे और वैदिक धर्म की हँसी उड़ाते थे। राजा स्वयं तो वेदों के प्रेमी थे, किन्तु उनका दरबार वेद निन्दक लोगों का अड्डा हो गया था। इसी को लक्ष्य करके कुमारिल भट्ट ने एक दिन कहा— "हे कोकिल ! यदि मलिन, काले, श्रुति (कान और वेद) को दूषित करने वाले कौओं से तुम्हारा संसर्ग नहीं होता, तो तुम सचमुच प्रशंसनीय हो।"

कुमारिल भट्ट का यह आक्षेप जैनियों को बहुत बुरा लगा। उन्होंने राजा से कुमारिल भट्ट की बहुत निन्दा की। राजा भी दोनों पक्षों की परीक्षा लेने का अवसर खोज रहा था। अतः एक दिन उसने घड़े में एक विषैले साँप को बन्द करवा दिया। जैनियों और ब्राह्मणों से इसके बारे में पूछा। जैनियों ने रात भर सोच-विचार के लिए समय मांगा। कुमारिल भट्ट ने तत्काल ही एक कागज पर लिख दिया कि घड़े में विषधर है। उधर जैनियों ने रात भर अपने तीर्थाङ्करों की प्रार्थना की। तब कहीं सबेरे वे बता सके कि घड़े में सर्प है। दोनों पक्ष के समान उत्तर पाकर राजा ने फिर पूछा कि सर्प में कोई विशेष चिह्न है ? जैनियों ने फिर समय माँगा, किन्तु कुमारिल भट्ट ने तत्काल ही बतला दिया कि सर्प के सिर पर पैर के दो निशान हैं। जब घड़ा खोला गया तो सचमुच यह देख कर सब आश्चर्य चकित हो गये कि सर्प के सिर पर दो पैरों के निशान बने थे।

राजा ने जैनियों को वहाँ से निकाल बाहर किया और अपने राज्य में वैदिक धर्म को स्थापित किया। कुमारिल भट्ट की इस विजय का बहुत प्रचार हुआ और उनका सामना करने की किसी में हिम्मत नहीं रह गई।

शंकराचार्य इन्हीं कुमारिल भट्ट से मिलने के संकल्प से उत्तरकाशी से प्रयाग पधारे थे। दोनों धर्म-धुरंधर विद्वान् महात्माओं का संगम प्रयाग में परम पावन त्रिवेणी तट पर हुआ था। जिस समय शंकराचार्य कुमारिल भट्ट से मिलने पधारे, उस समय कुमारिल भट्ट भूसी की आग में अपने शरीर को जलाकर प्रायश्चित कर रहे थे। उनका आधा शरीर प्रायः जल चुका था, किन्तु चेतना अभी शेष थी। शंकराचार्य को आया जानकर कुमारिल भट्ट ने उनसे कहा— "आपने थोड़ी देर कर दी।" फिर भी कुमारिल भट्ट ने शंकराचार्य को बहुत-

सी बातें बताई। शंकराचार्य ने अपना भाष्य कुमारिल को सुनाया। ब्रह्मसूत्रों पर शंकराचार्य के लिखे भाष्य को सुनकर कुमारिल भट्ट बहुत प्रसन्न हुए। भाष्य की उन्होंने बड़ी सराहना की।

शंकराचार्य ने कुमारिल भट्ट से जब इस प्रकार से शरीरान्त करने का कारण पूछा तो वे बोले—'मैंने दो बड़े पाप किये हैं। पहला पाप यह है कि मैंने अपने बौद्ध गुरु का तिरस्कार किया था और दूसरा मेरा पाप है कि जन्म के कर्ता ब्रह्म का खण्डन किया है। मैंने ईश्वर का खण्डन कर्म की प्रधानता को प्रमाणित करने के लिए किया था। परन्तु ईश्वर में मेरी पूरी आस्था है। लेकिन अब जो अपराध मुझसे जाने-अनजाने चाहे जैसे भी हो गये हैं, उनसे तो मुक्ति मिलनी ही चाहिए। इसीलिए यह प्रायश्चित कर रहा हूँ।'

कुमारिल भट्ट की बातें बड़ी मार्मिक थीं। उनको चारों ओर से घेरे हुए खड़े उनके शिष्यों की आंखों से अनवरत अश्रुधारा बह रही थी। अपने गुरु का अवसान समीप जानकर उनके मन में अपार पीड़ा थी। लेकिन वे बेचारे कर ही क्या सकते थे। वे चुपचाप खड़े होकर गुरु के अन्तिम दर्शन से अपने-अपने नेत्रों की प्यास शान्त कर रहे थे।

लेकिन कुमारिल भट्ट के मुखमण्डल पर उस समय भी किसी प्रकार की अशान्ति नहीं थी। अब भी उनकी मुखाकृति आभा और चमक से शोभा-यमान थी। शंकराचार्य उनकी बातें बड़ी तन्मयता से सुन रहे थे। जब कुमारिल भट्ट ने बोलना बन्द किया तो शंकराचार्य ने कहा—'आपके पवित्र चरित्र में पातक की सम्भावना तक भी नहीं है। यह तो आप सज्जनों को दिखाने तथा दूसरों के मार्ग दर्शन के लिए कर रहे हैं। यदि आप आज्ञा दें तो जल के बिन्दुओं से आप को शरीरान्त से बचा लूँ।'

शंकराचार्य की बातों से कुमारिल भट्ट को बड़ी प्रसन्नता और संतोष हुआ। वे कहने लगे—'मैं आपके प्रभाव को जानता हूँ। आप मुझे मरने से बचा सकते हैं। किन्तु मैंने संकल्प लेकर ऐसा व्रत किया है। अतः आप मुझे अब बचाने का प्रयत्न न कीजिए। हां, आप मेरे परमप्रिय शिष्य मण्डन मिश्र को दीक्षित कीजिए और उन्हें मार्ग दर्शन दीजिए। वे आपके सहायक होंगे। मेरा विश्वास है कि मण्डन मिश्र की सहायता से आपके अद्वैत मत का प्रचार होगा और भारतवर्ष के गगनमण्डल पर आपके यश की पताका अवश्य फहरायेगी।'

शंकराचार्य और मण्डन मिश्र

शङ्कराचार्य कुमारिल भट्ट की आज्ञा से मण्डन मिश्र से मिलने के लिए चल पड़े। मण्डन मिश्र उच्च कोटि के विद्वान् थे और कर्मकांड के ज्ञाता थे! उनके अनुयायियों की संख्या बहुत बड़ी थी और वे सब के सिरमौर समझे जाते थे। शङ्कराचार्य को अपने मत के प्रचार और अद्वैत मत के प्रतिष्ठान के लिए मण्डन मिश्र का सहयोग प्राप्त करना आवश्यक था। उनका वास्तविक नाम विश्वरूप था। चूंकि वे पंडितों और विद्वानों में मण्डन (सिरमौर) थे, इसलिए उनका नाम मण्डन मिश्र प्रसिद्ध हो गया था।

मण्डन मिश्र की पत्नी का नाम शारदा देवी था। वे अपने पति की ही तरह शास्त्रों की ज्ञाता और विदुषी थी। मण्डन मिश्र को ब्रह्मा और शारदा देवी को सरस्वती का अवतार माना गया है। मण्डन मिश्र के जन्म-स्थान के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। मैथिल पंडितों की मान्यता है कि मण्डन मिश्र का जन्म मिथिला के "वनगांव महिषी" नामक ग्राम में हुआ था। यह गाँव बिहार प्रदेश के सहरसा जिले में है। कुछ मैथिल विद्वानों के अनुसार उनका जन्म दरभंगा के एक ग्राम में हुआ था और इसी जनपद में शङ्कराचार्य और शारदा देवी का जगत् प्रसिद्ध शास्त्रार्थ हुआ था।

लेकिन इस सम्बन्ध में विद्वानों का एकमत नहीं है। माधवाचार्य के अनुसार मण्डन मिश्र का जन्म नर्मदा नदी के किनारे मान्धाता नामक ग्राम में हुआ था। यह स्थान मध्य प्रदेश के इन्दौर जिले में है। यह बड़े दुःख की बात है कि इतने बड़े विद्वान् एवं धर्माचार्य पंडित का, जिसने समय की गति को अपने पक्ष में मोड़ लिया हो, उनके जन्म-स्थान का अभी तक ठीक-ठीक निर्णय नहीं हो सका है।

मण्डन मिश्र के जन्म-स्थान के सम्बन्ध में चाहे विद्वत् समाज में जितना मतभेद क्यों न हो, उनकी प्रकांड विद्वत्ता के विषय में सभी एकमत हैं। उस समय से अब तक के सभी विदानों का मत है कि मण्डन मिश्र अद्वितीय विद्वान् थे और उनके मत को न स्वीकार करने वाले भी कम-से-कम इस बात को मानते थे कि सरस्वती उनकी जिह्वा पर वास करती थीं।

मण्डन मिश्र से मिलने शङ्कराचार्य जब उनके गांव पहुँचे, उस समय गांव के बाहर कुएँ से जल निकालती हुई महिलाओं से उन्होंने मण्डन मिश्र के निवास

का पता पूछा। उन महिलाओं में से एक ने उत्तर दिया—'आप किसी दूर स्थान से आये नवागन्तुक ज्ञात होते हैं। अन्यथा ऐसा कौन व्यक्ति है जो पण्डितों के सिरमौर और कर्मकांड के अद्वितीय विद्वान् मण्डन मिश्र के निवास को भला न जानता हो। जिस दरवाजे पर पिंजड़ों में बैठी हुई सारिकायें आपस में जगत्, वेद और ब्रह्म विषयक चर्चा कर रही हों, उसे ही आप मण्डन मिश्र का निवास जानिए।'

ग्रामीण महिलाओं द्वारा मण्डन मिश्र के निवास-स्थान का इस प्रकार से परिचय प्राप्त कर शंकराचार्य का मन प्रसन्नता से भर उठा। उन्होंने विचार किया कि जिस व्यक्ति द्वारा पालित सारिकायें वेद, ब्रह्म और जगत् सम्बन्धी शास्त्रार्थ कर सकती हैं, वह व्यक्ति स्वयं कितना विद्वान् होगा। यही विचार करते-करते शङ्कराचार्य ठीक मण्डन मिश्र के द्वार पर जा खड़े हुए। उस समय सचमुच दो सारिकायें आपस में यही विचार कर रही थीं कि जगत् नित्य है या अनित्य। अर्थात् जगत् का कभी विनाश सम्भव है, या जगत् शाश्वत है। शङ्कराचार्य को उनके इस वार्तालाप में रस मिला। वे कुछ समय तक वहीं खड़े रह कर सारिकाओं के वार्तालाप में आनन्द लेते रहे। जिस समय शङ्कराचार्य मण्डन मिश्र के द्वार पर पहुँचे थे, उस समय उनका मुख्य दरवाजा बन्द था। सेवक सेविकायें वहाँ खड़ी थीं और भीतर जाने की अनुमति किसी को नहीं थी।

शङ्कराचार्य ने वहाँ खड़े एक द्वारपाल से पूछा—तुम्हारे स्वामी कहाँ हैं ?

द्वारपाल—महात्मन् ! हमारे स्वामी इस समय महल के भीतर हैं और आज अपने पूज्य स्वर्गीय पिता का श्राद्ध कर रहे हैं। श्राद्धकर्म की समाप्ति तक किसी को महल के भीतर जाने की अनुमति नहीं है। इसलिए हम लोगों ने यह मुख्य द्वार बन्द कर रखा है।

शङ्कराचार्य मण्डन मिश्र से मिलने के लिए आकुल थे। पता नहीं, श्राद्ध कर्म-काण्ड कब तक समाप्त हो, यह सोचकर उनकी आकुलता और बढ़ गई। अब अधिक समय तक वे प्रतीक्षा नहीं कर सकते थे। अतः आकाश मार्ग से उन्होंने आंगन में प्रवेश किया।

श्राद्ध के अवसर पर संन्यासी का आना बुरा माना जाता है। अतः उस समय आंगन में संन्यासी (शङ्कराचार्य) को आया देखकर मण्डन मिश्र क्रोध से तिलमिला उठे। भगवत् इच्छा से व्यास जी और जैमिनी वहाँ पहले से आमन्त्रित होकर आ गये थे। मण्डन मिश्र के क्रोध को उन्होंने शान्त किया।

शङ्कराचार्य ने मण्डन मिश्र को अपना परिचय दिया और अपने आने का कारण बतलाया। शास्त्रार्थ की बात सुनकर मण्डन मिश्र बहुत प्रसन्न हुए। उन्हें ऐसा विश्वास था कि उनके जैसा कोई विद्वान् पंडित नहीं था और शङ्कराचार्य को परास्त करने में उन्हें विशेष कठिनाई नहीं होगी। शङ्कराचार्य का नाम उस समय पंडित समाज में बड़े आदर से लिया जाने लगा था। अतः उन्हें शास्त्रार्थ में हराकर अपनी प्रतिष्ठा और मान मर्यादा में चार चांद लगाने की मन्डन मिश्र की इच्छा बलवती हो उठी। शङ्कराचार्य की उपस्थिति अब मण्डन मिश्र को बड़ी शुभ ज्ञात होने लगी।

शङ्कराचार्य अद्वैत मत के अधिष्ठाता और मन्डन मिश्र कर्म-कांड के प्रकाण्ड पंडित थे। दोनों अपने-अपने क्षेत्र के अगुवा और सिरमौर थे। इन दोनों के शास्त्रार्थ में निर्णय का महान् पद कौन संभाले, यह एक समस्या थी। शङ्कराचार्य और मन्डन मिश्र दोनों ने जैमिनी से यह पद स्वीकार करने की प्रार्थना की। किन्तु वे यह गुरुतर भार स्वीकार न कर सके। उन्होंने मन्डन मिश्र की विदुषी पत्नी शारदा देवी (जिन्हें भारती भी कहते हैं) का नाम प्रस्तावित किया। जैमिनी के इस प्रस्ताव को शङ्कराचार्य और मन्डन मिश्र दोनों ने स्वीकार कर लिया।

निश्चित दिवस के प्रातःकाल शङ्कराचार्य और मन्डन मिश्र का जगत् प्रसिद्ध ऐतिहासिक शास्त्रार्थ प्रारम्भ हुआ। विद्वानों, कर्म-काण्डियों और पंडितों से मन्डन मिश्र का दरवाजा खचाखच भर गया। इस शास्त्रार्थ की मुख्य शर्त यह थी कि यदि शङ्कराचार्य शास्त्रार्थ में परास्त होंगे, तो उन्हें संन्यास छोड़कर गृहस्थ जीवन में प्रवेश करना होगा और यदि मन्डन मिश्र परास्त होंगे, तो उन्हें गृहस्थ जीवन का त्याग कर संन्यास जीवन ग्रहण करना होगा।

मन्डन मिश्र के विशाल निवास के एक सुशोभित बड़े कक्ष में आमने-सामने दो तखतों पर आसन लगे थे। उनमें से एक पर शंकराचार्य और दूसरे पर मन्डन मिश्र बैठे थे। इन दोनों तखतों के मध्य कुछ दूरी पर तीसरा स्थान शास्त्रार्थ की निर्णायिका शारदा देवी के लिए लगाया गया था। शारदा देवी ने शास्त्रार्थ के पूर्व पुष्प की एक-एक माला दोनों शास्त्रार्थियों के गले में डाल दिया और कहा कि जिसके गले की माला पहले मलिन होगी, वही परास्त समझा जायेगा।

यह शास्त्रार्थ कई दिनों तक चलता रहा। कभी शकराचार्य का पक्ष प्रबल हो जाता और कभी मन्डन मिश्र का। दोनों एक दूसरे के पक्ष को अपने-अपने

तर्क और प्रमाणों से विफल करने की कोशिश में लगे रहते थे। लेकिन कभी किसी ने कड़े शब्द का प्रयोग नहीं किया और अपनी बात में किसी ने कटुता नहीं आने दी। दोनों के मुखमण्डल पर मन्द-मन्द मुस्कान विराजती रहती थी। अन्त में शंकराचार्य का पक्ष प्रबल होने लगा। मण्डन मिश्र के गले की पुष्प माला मुरझाने लगी। उन्होंने अपनी पराजय स्वीकार कर ली।

अपने पति द्वारा पराजय स्वीकार लेने के बाद शारदा देवी शंकराचार्य से बोलीं—"महामुने! मेरे स्वामी को परास्त कर अभी आपने केवल आधी ही विजय प्राप्त की है। मेरे पति को संन्यास की दीक्षा देने के पूर्व आपको मुझसे शास्त्रार्थ करना होगा। मेरी पराजय के बाद ही आपकी पूर्ण विजय मानी जायगी।"

शंकराचार्य ने शारदा देवी की बात मान ली। इस शास्त्रार्थ का भी आँखों देखा हाल जानने के लिए बड़े-बड़े आचार्य और पंडित आये। निश्चित समय पर शास्त्रार्थ प्रारम्भ हुआ। शारदा देवी ने शंकराचार्य से कामशास्त्र सम्बन्धी प्रश्न पूछे। कामशास्त्र के प्रश्नों से वे सर्वथा अनभिज्ञ थे अतः उन्होंने इन प्रश्नों का उत्तर देने के लिए कुछ समय माँगा। शारदा देवी ने समय दे दिया। शंकराचार्य कामशास्त्र सम्बन्धी ज्ञान प्राप्त करने के उद्देश्य से अपने शिष्यों सहित वहाँ से चल दिये।

●

शारदा और शंकर

शारदा देवी को अपने पति के शंकराचार्य से परास्त होने का बड़ा दुःख था। वे कभी इस बात को सोच भी नहीं सकती थीं कि कोई व्यक्ति मण्डन मिश्र को शास्त्रार्थ में परास्त कर सकता है। मण्डन मिश्र से भी अधिक कोई विद्वान् और पंडित है, इस बात का कोई कल्पना भी उन दिनों नहीं कर सकता था। लेकिन वही हुआ जो ईश्वर की इच्छा थी। मण्डन मिश्र शंकराचार्य से परास्त हो गये। शंकराचार्य की विजय पताका फहराने लगी।

मण्डन मिश्र गृहस्थ थे। उनका विवाह हुआ था। शारदा जी उनकी अर्धाङ्गिनी थीं। मण्डन मिश्र के परास्त हो जाने पर भी उनका पूर्ण-रूपेण परास्त होना नहीं माना जा सकता था। अभी भी उनका अर्धाङ्ग स्वतन्त्र था। बात शास्त्रसम्मत है। इसलिए शारदा देवी की बात का औचित्य स्वीकार कर मण्डन मिश्र को गृहस्थ आश्रम छोड़ने और संन्यास धर्म स्वीकार करने के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता था। अतः शंकराचार्य ने शारदा देवी का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। हालांकि वे शारदा देवी से शास्त्रार्थ करना चाहते नहीं थे। क्योंकि यशस्वी पुरुष के लिए महिलाओं से वाद-विवाद करना उचित नहीं बताया गया है।

लेकिन शारदा देवी भी कोई साधारण महिला नहीं थीं। शंकराचार्य की ही भाँति वे भी प्रतिभासम्पन्न थीं और उन्हें विश्वास था कि कोई विद्वान् उनके तर्क के सामने ठहर न सकेगा।

जब शास्त्रार्थ प्रारम्भ हुआ तो शारदा देवी ने शंकराचार्य से कामशास्त्र सम्बन्धी प्रश्न पूछा। भला कामशास्त्र से शंकराचार्य को क्या सम्बन्ध ? उन्होंने विचार किया कि इस प्रश्न का उत्तर न देना अल्पज्ञता मानी जायेगी और उत्तर देना सन्यास धर्म की मर्यादा के अनुकूल न होगा। इसलिए उन्होंने उत्तर देने के लिए समय माँगा और शारदा देवी ने समय देना सहर्ष स्वीकार कर लिया। वे सोचती थीं कि बाल-ब्रह्मचारी शंकराचार्य कामशास्त्र सम्बन्धी प्रश्नों का उत्तर न दे पायेंगे।

शारदा देवी के कामशास्त्र सम्बन्धी प्रश्न से शङ्कराचार्य सचमुच ही सोच-विचार में पड़ गये। वे उपाय खोजने के लिए आकाश में विचरण करने लगे। उसी समय उन्होंने देखा कि पृथ्वी पर अमरूक नामक एक राजा का मृत शरीर पड़ा है और उसकी पत्नी तथा सम्बन्धी विलाप कर रहे हैं। चिन्तातुर मन्त्रिगण उनके मृत शरीर के पास ही खड़े हैं। यह दृश्य देखते ही शङ्कराचार्य के मन में आया कि "क्यों न इस राजा के शरीर में प्रवेश कर काम विषयक व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त करूँ।" यह विचार मन में आते ही उन्होंने अपना विचार अपने शिष्य पद्मपाद को बताया। शंकराचार्य की इस बात से पद्मापद सहमत न हो सके और उन्हें दुःख हुआ। उन्होंने इस विचार का विरोध किया तथा शङ्कराचार्य से इस विचार को एकदम त्याग देने की प्रार्थना की। पद्मपाद ने कहा कि "कहाँ हमारा अनुपम संन्यास व्रत और कहाँ यह निन्दनीय कामशास्त्र। यदि आपने कामशास्त्र विषयक ज्ञान को इतना महत्व दिया और उसके ज्ञान के लिए दूसरे शरीर में प्रवेश कर उसे व्यावहारिक रूप दिया तो यह संन्यास धर्म बहुत ही अव्यवस्थित हो जायेगा। भू-मण्डल पर संन्यास धर्म अमर्यादित समझा जाने लगेगा और सर्वसाधारण में हम लोगों की बड़ी निन्दा होगी। एक तो पहले से ही इसमें शिथिलता आ गई है, आपके विचार के क्रियात्मक रूप से हम पतनोन्मुखी समझे जाने लगेंगे और अधिक अव्यवस्था फैलेगी।"

शङ्कराचार्य ने अपने शिष्य की सम्पूर्ण शंकाओं को बड़े ध्यान से सुना और उन पर विचार किया। जब पूर्ण रूप से उनके मन में यह बात आ गई कि इस धर्म संकट के समय में परकाय प्रवेश निन्दित नहीं है और साथ ही शास्त्र विरुद्ध भी नहीं है, तो अत्यन्त स्नेह से उन्होंने पद्मपाद से कहा—"तुम्हारे सद्विचारों से मैं बहुत प्रसन्न हूँ। तुमने सद्भाव से प्रेरित होकर यह विचार व्यक्त किया है। लेकिन तुमने इस तथ्य के केवल वाह्य अंग पर विचार किया है। तुम जानते नहीं हो कि समस्त इच्छाओं का मूल तो संकल्प है। संकल्प से ही पाप-पुण्य की स्थापना होती है। यदि मेरे मन में परकाय प्रवेश का उद्देश्य केवल काम विषयक ज्ञान प्राप्त करने के अतिरिक्त और कुछ नहीं है तो यह कदापि निन्दनीय नहीं है। यदि हमारा संकल्प कोई पुण्य कर्म करने का है और अनजान में इससे कोई भूल भी हो जाती है, तो उसका पाप कदापि नहीं लगता। हमारे लिए तो यह जगत् हेय है। हमने तो इस संसार को असत्य मान लिया है। वास्तव में यह कल्पित और असत्य है। हमारे मन में

कामवासना का लेश मात्र भी स्थान नहीं है। अतः हमारा परकाय प्रवेश और तत्पश्चात् काम विषयक ज्ञान प्राप्त करना, कदापि निन्दनीय और शास्त्र विरुद्ध नहीं है।''

अपने कथन की पुष्टि के लिए शङ्कराचार्य ने शास्त्रसम्मत उदाहरण देकर अपने शिष्यों को समझाया। तत्पश्चात् उन्होंने सब के साथ पास के एक पहाड़ी निर्जन स्थान में जाकर एक अत्यन्त गोपनीय गुफा की तलाश की। उसी गुफा में शङ्कराचार्य ने अपने शरीर को छोड़ दिया। उनके शरीर की रखवाली शिष्य-गण सावधानीपूर्वक करने लगे। उधर शङ्कराचार्य का सूक्ष्म शरीर राजा अमरूक के शरीर में प्रवेश कर गया। राजा के मृत शरीर में प्राण का संचार होते हुए देख कर रोती विलपती रानियाँ और राज परिवार से सम्बन्धित लोग आश्चर्य में पड़ गए। राजा जैसे सोते से उठ बैठे हों। राज परिवार में आनन्द की लहर दौड़ गयी। मंत्रियों के चेहरों से चिन्ता की रेखाएँ मिट गईं। चारों ओर का वातावरण अत्यन्त उत्साहवर्द्धक, आनन्ददायक और उल्लासपूर्ण हो गया।

राज्य का कार्य पूर्ववत् चलने लगा। मंत्री लोग अपने कार्य में लग गये। दूसरे सभी कर्मचारी उनकी आज्ञानुसार राज्यकार्य में सहयोग देने लगे। इधर नये राजा सुन्दरी एवं विलासिनी स्त्रियों के साथ क्रीड़ा में रम गये और थोड़े ही समय में कामशास्त्र की पूर्ण जानकारी प्राप्त कर लिया।

शङ्कराचार्य के राजा अमरूक के शरीर में प्रवेश करने के समय से ही उनके शिष्य गुफा में पड़े उनके शरीर की रखवाली कर रहे थे। उन्हें विश्वास था कि एक महीने में अपने अभीष्ट की सिद्धि प्राप्त करके गुरु जी अपने वास्तविक रूप में प्रकट हो जायेंगे। प्रतीक्षा में दिन बीते—रातें बीतीं, लेकिन जब शङ्कराचार्य एक मास की अवधि समाप्त कर नहीं लौटे, तो उनके शिष्यों को बड़ी चिन्ता होने लगी। निराश होकर एक दिन पद्मपाद शङ्कराचार्य के शरीर की रखवाली का पूरा प्रबन्ध अपने दूसरे मित्रों को सौंपकर, उन्हें ढूंढ़ने के लिए चल पड़े। यौगिक क्रिया से उन्होंने जान लिया कि शङ्कराचार्य अमरूक राजा के राज्य में हैं।

पद्मपाद राजा के महल के सामने जाकर उच्च स्वर से संस्कृत के श्लोकों का उच्चारण करने लगे। जिनका भावार्थ इस प्रकार था—''हे राजन्! तुम अपने को समझो। तुम वह तत्व हो जिसके मनन और साधन से विद्वान् और

पंडित अपनी इन्द्रियों को पूर्ण रूप से वश में कर लेते हैं और इस प्रकार जन्म-मरण के आवागमन के क्लेश से मुक्त हो जाते हैं।"

पद्मपाद द्वारा उच्च स्वर में कहे गए श्लोकों का भावार्थ जानकर राजा की सम्पूर्ण ज्ञानेन्द्रियाँ जागृत हो उठीं। फिर क्या था। जिस प्रकार शङ्कराचार्य राजा अमरूक के शरीर में प्रवेश किये थे, उसी तरह उनका सूक्ष्म शरीर बाहर निकल कर अपने वास्तविक शरीर में प्रवेश कर गया। शिष्यों की प्रसन्नता का वारापार न रहा।

अपनी प्रतिज्ञानुसार शङ्कराचार्य शारदा देवी के पास पहुँचे। शारदा देवी स्वयं अलौकिक शक्ति से युक्त थीं। उन्हें शङ्कराचार्य के परकाय प्रवेश की अभूत-पूर्व घटना की जानकारी हो गई थी। अतः शारदा देवी ने शंकर की प्रतिभा के सामने अपनी पराजय स्वीकार कर ली और उनसे बोलीं—"आपने मुझे भी पराजित कर मेरे पति पर पूर्ण विजय प्राप्त कर लिया।"

पूर्व संकल्प और शास्त्रार्थ की शर्त के अनुसार मण्डन मिश्र ने गृहस्थ आश्रम त्याग दिया और शङ्कराचार्य को अपना गुरु मानकर संन्यास धर्म स्वीकार कर लिया। शङ्कराचार्य ने उसका नाम सुरेश्वराचार्य रखा।

●

शंकराचार्य की तीर्थयात्रा

मण्डन मिश्र को शास्त्रार्थ में पराजित करके शङ्कराचार्य ने इन्हें संन्यासी बना लिया। वे शङ्कराचार्य के शिष्य हो गये और उनका सुरेश्वराचार्य नाम पड़ा। मण्डन मिश्र अद्वितीय विद्वान् थे। उनको पराजित करने से उत्तरी भारत में शङ्कराचार्य की विद्वत्ता का डंका बजने लगा। सभी पंडितों ने एकमत से उन्हें विद्वान् स्वीकार कर लिया और उनके मत से सहमत हो गये। यह उनकी बहुत भारी विजय थी। मण्डन मिश्र को पराजित करके शङ्कराचार्य ने सफलता की कुंजी प्राप्त कर ली।

अब उनके पास उन्हीं के समान दो विद्वान् शिष्य हो गये—पद्मपाद और सुरेश्वराचार्य। शङ्कराचार्य ने अपने शिष्यों सहित दक्षिण भारत में जाने का निश्चय किया। उन्होंने सुन रखा था कि दक्षिण में धर्म के नाम पर भोली-भाली जनता के साथ कुछ अन्य मतावलम्बी अनाचार करते हैं और उन्हें गुमराह भी करते हैं।

अपने परम पुनीत श्रीचरणों से महाराष्ट्र प्रदेश को पवित्र करते हुए शङ्कराचार्य मद्रास 'तमिलनाडु' राज्य में पहुँचे। मद्रास के कर्नूल जिले में एक प्रसिद्ध तीर्थ स्थान "श्रीशैल" है। यह एक छोटी पहाड़ी पर स्थित है। यहाँ एक बहुत पुराना शिव मन्दिर है, जिसकी लम्बाई ६६० फीट और चौड़ाई ५१० फीट है। प्राचीन काल से आज तक यहाँ बराबर शैवों का बहुत बड़ा मेला महाशिवरात्रि के दिन लगता है। सिद्धि प्राप्ति के लिए यह पर्वत प्रसिद्ध था। शैवों के अतिरिक्त बौद्ध संन्यासी भी सिद्धि प्राप्त करने हेतु इस पर्वत पर आकर साधना करते थे।

शैव स्थान होने के कारण अवैदिक मतावलम्बी भी यहाँ आते थे। बौद्धों का प्रभाव वहां अधिक था। मंत्र-तंत्र द्वारा सिद्धि प्राप्त करने के लिए कापालिक लोगों का भी जमाव यहाँ होता था। कापालिक शैव धर्म को ही मानते थे। किन्तु उनका सम्बन्ध शिव के उग्र रूप से था। वे महा भैरव की पूजा करते थे। उन दिनों उनका भी बहुत प्रभाव था।

कापालिकों की सम्पूर्ण विधियाँ विचित्र होती थीं। वे मनुष्यों की हड्डी की

माला पहनते थे और मनुष्य की खोपड़ी में भोजन करते थे। अपने इष्ट देवता को प्रसन्न करने के लिए मनुष्यों की बलि भी देते थे।

श्रीशैल पर्वत पर पहुँचने के थोड़े ही समय में शंकराचार्य का प्रभाव बहुत बढ़ गया। बौद्ध संन्यासी उनकी विद्वत्ता और आचार-विचार के सामने ठहर नहीं सके। इससे कापालिकों को बड़ी चिन्ता हुई। अतः उन्होंने शंकराचार्य को मार डालने की योजना बनाई। कापालिकों का मुखिया शंकराचार्य का शिष्य हो गया। उनका नाम उग्र भैरव था। कुछ दिनों तक शंकराचार्य के साथ रहकर उसने देख लिया कि उनका जीवन कितना दिव्य था और वे स्वयं कितने बड़े तपस्वी एवं मनस्वी थे।

शंकराचार्य के वैदिक प्रचार के सामने कापालिकों के अवैदिक कार्यों की निन्दा होने लगी और लोगों का मन उधर से हटने लगा। इससे कापालिकों की चिन्ता और भी बढ़ने लगी। एक दिन उग्र भैरव ने शंकराचार्य को एकान्त में पाकर उनसे कहा कि "गुरुदेव ! एक अलौकिक सिद्धि प्राप्ति के लिए मुझे नर बलि देनी है। उसके लिए मुझे किसी तेजस्वी राजा या मनस्वी योगी के सिर की आवश्यकता है। बहुत प्रयत्न करने पर भी किसी राजा के सिर की उपलब्धि नहीं हो सकी। इस समय आपसे बड़ा मनस्वी योगी कोई है नहीं। यदि आप कृपा करके अपना सिर उतारने की अनुमति दे देते, तो हमारा काम बन जाता।"

शंकराचार्य ने उसकी बातें सुनकर कहा—मुझे तो कोई आपत्ति नहीं है भाई, किन्तु तुम इस बात को मेरे शिष्यों के सामने मत कहना और जब कभी मैं अकेला होऊँ, मेरे शिष्य वहाँ न हों, तो तुम आकर मेरा सिर उतार लेना।

उग्र भैरव उस दिन से अपनी तलवार की धार तेज किए हमेशा ऐसे समय की ताक में रहता, जिस समय शंकराचार्य अकेले हों। कोई उनके पास न हो। आखिर एक ऐसा अवसर उसे मिल ही गया। वह अपनी तलवार अभी शंकराचार्य पर चलाने वाला ही था कि पद्मपाद कहीं से अकस्मात आ गये और अपने त्रिशूल की नोक से उस पर प्रहार कर उसका काम तमाम कर दिया।

उग्र भैरव की मृत्यु से कापालिकों का दल छिन्न-भिन्न हो गया और प्रायः वे लोग विलुप्त हो गए।

कापालिकों के विनाश से शंकराचार्य को अपने अद्वैत मत के प्रचार में बहुत सुगमता मिली। कापालिक जनता को गुमराह करते थे और अपने अशोभनीय आचार से भगवत पूजा की परम पवित्र विधि को अशुद्ध रूप से जन साधारण के सामने रखते थे।

शंकराचार्य श्रीशैल से महाराष्ट्र पधारे। यहाँ आकर उन्होंने गोकर्ण का दर्शन किया। यह एक प्रसिद्ध तीर्थ स्थान है और गोवा से तीस मील दूर समुद्र के किनारे बसा है। यहाँ पर शिवजी का मन्दिर है। उसे महाबालेश्वर कहा जाता है। बाल्मीकि रामायण से पता चलता है कि कुबेर के समान धन प्राप्ति की लालसा से रावण ने गोकर्ण में आकर घोर तपस्या किया था। महाभारत में लिखा है कि गोकर्ण तीर्थ की महिमा अपरम्पार है। यहाँ तीन रात ठहरने पर अश्वमेध यज्ञ जैसा पुण्य फल प्राप्त होता है।

गोकर्ण में तीन रात निवास करने के बाद शंकराचार्य अपने शिष्यों सहित हरिशंकर क्षेत्र की ओर बढ़े। वहाँ हरिहर की मूर्ति विराजमान है। यहाँ मन्दिर में तन्मय होकर उन्होंने भगवान् हरिहर के सामने प्रार्थना किया। हरिहर का दर्शन करने के बाद वे मूकाम्बिका की यात्रा के लिए चल पड़े। मूकाम्बिका की यात्रा में एक विचित्र घटना घटी। एक ब्राह्मण दम्पत्ति अपने एकलौते मृत पुत्र को गोदी में लेकर विलाप कर रहे थे। ब्राह्मण दम्पति के विलाप से आचार्य शंकर का कोमल हृदय पिघल गया। उन्होंने उस मृत बालक को जिला दिया। उनके इस अलौकिक चमत्कारिक कार्य से लोगों को महान् आश्चर्य हुआ। बालक के जी जाने से उनकी यश कथा उत्साह से घर-घर गाई जाने लगी।

वहाँ पहुँच कर शंकराचार्य ने मूकाम्बिका की प्रार्थना और पूजा किया। कुछ दिनों तक वहाँ निवास कर उन्होंने अद्वैत मत का प्रचार किया। रास्ते में जहाँ बौद्धों या जैनियों के अड्डे थे, वहाँ आचार्य शंकर ने विशेष रूप से लोगों को अद्वैत की बातें बतलाईं। इसका परिणाम यह होता था कि बौद्ध भिक्षुओं या जैन मुनियों को वहाँ कोई पूछता नहीं था और वे लोग अपने पराभव के कारण स्थान छोड़कर कहीं दूसरी जगह चले जाते थे।

मूकाम्बिका से थोड़ी दूर पर एक ब्राह्मणों की बस्ती थी। वहाँ लगभग दो हजार ब्राह्मण निवास करते थे। जिस स्थान में केवल ब्राह्मण ही रहते थे, उस बस्ती को अग्रहार कहा जाता था। उस अग्रहार में प्रभाकर नामक एक उत्तम गुण सम्पन्न ब्राह्मण रहते थे। प्रभाकर तो स्वयं विद्वान, गुणी और प्रतिभा

सम्पन्न थे, लेकिन अपने पुत्र के लिए बड़े दुःखी और चिन्तित रहते थे। उनके पुत्र के नहाने-खाने का कोई समय नहीं था। हमेशा आलसी की तरह पड़ा रहता था। जब कभी जी में आता, तो स्नान करता था और जब कभी भूख लगती, तो खा लेता था। प्रभाकर अपने पुत्र के इस आचरण से बहुत दुखी रहते थे। शंकराचार्य को आया जानकर प्रभाकर अपने पुत्र को लेकर उनके दर्शन के लिए वहाँ गए। अपनी चिन्ता का सविस्तार विवरण देते हुए प्रभाकर ने शंकराचार्य से कहा, "महात्मन्! मेरा यह पुत्र तेरह वर्ष का हो गया है। हमने इसका उपनयन संस्कार कर दिया है, किन्तु अभी तक इसे अक्षर ज्ञान तक नहीं हुआ। उसमें इसका मन नहीं लगता है। यह किसी से कुछ बोलता नहीं। हमेशा आलसी की भांति मौन पड़ा रहता है। इसका आचरण एकदम जड़ की भाँति है। कृपया आप बतलावें कि ऐसा क्यों है?"

शंकराचार्य ने उस बालक की ओर देखा और उससे पूछा—"तुम कौन हो और जड़ की भाँति आचरण क्यों करते हो?"

इतना सुनते ही बालक बोल उठा—"भगवान्! मैं आनन्द हूँ। देह, इन्द्रिय आदि से अलग हूँ। मेरे मन में किसी प्रकार का विकार नहीं है। उन्हें अपने पास न फटकने देने के लिए मैं चैतन्य रूप हूँ। कौन कहता है कि मैं जड़ हूँ?"

इतना सुनते ही वहाँ उपस्थित सभी लोग आश्चर्यचकित हो गए। पिता जिस बालक को मूर्ख और आलसी समझते थे, वह तो ब्रह्मज्ञानी निकला।

शंकराचार्य ने उस बालक को अपना शिष्य बना लिया और उसका नाम हस्तामलक रखा। वास्तव में वह बालक ब्रह्मज्ञानी था और पूर्व जन्म के अभ्यास से सब कुछ जानते हुए भी सदा चुप रहता था।

वहाँ से शंकराचार्य श्रृंगेरी क्षेत्र में गए। पूर्व काल में यहीं पर ऋषि श्रृंग तपस्या करते थे। माँ की अनुमति से संन्यास ग्रहण करने की अभिलाषा से गुरु की खोज में जब बारह वर्ष पूर्व शंकर यहाँ प्रथम बार पधारे थे, तो एक काले नाग द्वारा अपने फण से मेढ़क के बच्चों की रक्षा करते देख इस स्थान के पवित्र और शान्ति का आभास उन्हें उसी समय हो गया था। तभी उन्होंने निश्चय किया था कि इस शान्त श्रृंगेरी क्षेत्र में वे एक मठ स्थापित करेंगे।

श्रृंगेरी क्षेत्र वर्तमान समय में दक्षिण भारत के गुँटूर जिले में तुंगभद्रा नदी के किनारे स्थित है। शंकराचार्य ने पूर्व संकल्प के अनुसार यहाँ एक मठ की स्थापना किया। इस श्रृंगेरी मठ का नाम शारदा मठ पड़ा। विजयनगरम् के राजा की ओर से इस मठ को विशेष जागीर मिली थी। प्राचीन काल से इस समय तक अद्वैत विद्या के प्रचार-प्रसार का यह बहुत महत्वपूर्ण केन्द्र रहा है। स्वयं शंकराचार्य बहुत दिनों तक यहाँ निवास करते हुए अपने सिद्धान्तों के प्रचार में रत रहे।

श्रृंगेरी मठ का नाम मण्डन मिश्र (सुरेश्वराचार्य) की विदुषी पत्नी शारदा देवी के नाम पर शारदापीठ रखा गया था। शंकराचार्य ने इस स्थान का पूर्ण दायित्व अपने शिष्य सुरेश्वराचार्य को सौंप दिया था।

शारदापीठ में शंकराचार्य ने पुनः एक बार ब्रह्मसूत्र पर लिखे अपने भाष्य को शिष्यों को बतलाया। उन्हें अद्वैत धर्म के प्रचार की प्रेरणा दी और स्वयं इसमें पूर्णरूपेण लग गये।

शंकराचार्य और पंचपादिका

थोड़े ही समय में शारदापीठ का यश दूर-दूर तक फैल गया। यह स्थान शंकराचार्य के सिद्धान्त के प्रचार और प्रसार का मुख्य केन्द्र हो गया। उस समय देश में बौद्ध संन्यासियों और जैन मुनियों का बड़ा जोर था, किन्तु उनके आचरण से उनकी मान-मर्यादा घटने लगी थी। क्योंकि उनका जीवन विलास एवं आडम्बर पूर्ण हो गया था। बौद्ध संघों में महिलाओं के प्रवेश पा जाने से बौद्ध भिक्षु न केवल प्रमादी और आलसी हो गये थे, वरन् उनका आचरण भी शुद्ध नहीं रह गया था। जैन साधुओं की भी यही दशा थी। वे अनेक प्रकार के आडम्बर करते थे। अपने तीर्थाङ्करों के आदेशों की उपेक्षा कर अलग-अलग मत चलाने लगे थे। परिणाम स्वरूप धर्म के प्रति जनता एक प्रकार से निराशा होने लगी थी और अनेक धर्मों और मत-मतान्तरों के फैल जाने से यह निश्चय करना कठिन हो रहा था कि कौन धर्म या मत ठीक है और कौन ठीक नहीं है।

ऐसी अन्धकारपूर्ण स्थिति में शंकराचार्य का उदय निश्चय ही अनेक धर्मों और मतों के दूषित वातावरण के बादलों से भारतीय धर्म और सांस्कृतिक गगन को स्वच्छ करने के लिए हुआ था। सौभाग्यवश शंकराचार्य को ऐसे शिष्य मिल गये थे, जिनके द्वारा धर्म और वेद-विद्या पर पड़े पर्दे को हटा फेंकने में उन्हें बड़ी सहायता मिली। शृंगेरी में एक दिन नित्य की भाँति शंकराचार्य जब अपने शिष्यों को पढ़ाने बैठे तो कोई एक शिष्य वहाँ उस समय उपस्थित नहीं था। पूछने पर ज्ञात हुआ कि स्नान के लिये गया था। गुरु ने उसकी प्रतीक्षा में किसी को नहीं पढ़ाया। वह अति साधारण प्रतीत होने वाला विद्यार्थी था। पद्मपाद जैसे मेधावी छात्रों को गुरु जी द्वारा उस छात्र के लिये प्रतीक्षा करना उचित नहीं लगा। शंकराचार्य अपने शिष्यों के मन का भाव समझ गये। स्नान करके लौटते समय गुरु की कृपा से उस छात्र को अलौकिक प्रतिभा प्राप्त हो गई और उनके सामने पहुँचते ही आध्यात्म से परिपूर्ण पद्यमय वाणी अबाध रूप से उसके मुँह से उच्चारण होने लगी। जिस शिष्य को लोग निरामूर्ख मानते थे, वह आत्मविद्या का अलौकिक पंडित था। शंकराचार्य की प्रेरणा और आशीर्वाद से समय पर उसकी आभा प्रस्फुटित हो गई। उस शिष्य के

मुख से उस समय तोटक छन्दों में वाणी निकली थी। इसलिए शंकराचार्य ने अपने इस विद्वान् पंडित शिष्य का नाम तोटकाचार्य रखा। तोटकाचार्य अपने गुरु के अनन्य भक्त और प्रिय शिष्यों में से थे। शंकराचार्य ने जब बदरिकाश्रम के पास ज्योतिर्मठ की स्थापना की, तो उसकी अध्यक्षता का भार इन्हीं तोटकाचार्य को सौंपा था।

श्रृंगेरी में शिष्यों की पढ़ाई का काम प्रायः समाप्त हो गया था। अब वे सब के सब प्रकाण्ड पंडित हो गये थे। उन सब की योग्यता और रुचि के अनुसार शंकराचार्य ने उन्हें कुछ ग्रन्थों की रचना का भार सौंपा। गुरु की आज्ञा का पालन हुआ। जो कार्य जिसको सौंपा गया था, उसको पूर्ण करके सबने गुरु को सुनाया। वे सुनकर परम प्रसन्न हुए। अब उन्हें पूर्ण विश्वास हो गया कि सभी शिष्य उनके सिद्धान्तों को भली-भाँति जानते और उनका प्रचार उचित प्रकार से कर सकते थे।

एक बार पद्मपाद गुरु की आज्ञा लेकर अपने प्रदेश में चले गये। वे चोल (द्रविड़) देश के निवासी थे। किन्तु शिक्षा प्राप्त करने के लिए बाल्यकाल से ही काशी में रहने लगे थे। वहीं वे शंकराचार्य के शिष्य हो गये और उनके साथ रहने लगे। अपने प्रदेश लौटकर एक दिन पद्मपाद अपने मामा से मिलने गये। मामा ने उनका विधिवत् सत्कार किया। पद्मपाद ने अपनी पुस्तक "ब्रह्मसूत्र भाष्य टीका" अपने मामा को दिखलाई। मामा विद्वान् पुरुष थे। परन्तु थे मीमांसक। एक ओर जहाँ वे अपने भान्जे की योग्यता और पाण्डित्य देखकर बहुत ही प्रसन्न हुए, वहीं दूसरी ओर पुस्तक में मीमांसा खण्डन से उन्हें बहुत दुःख हुआ। पद्मपाद के प्रति उनके मन में ईर्ष्या के भाव आ गये।

पद्मपाद तीर्थाटन करने के विचार से गुरु की आज्ञा लेकर आये थे। इसलिये वे रामेश्वरम् और दूसरे तीर्थों में भी जाना चाहते थे। सोच विचार कर अपनी हस्तलिखित पुस्तक मामा को सौंपकर अपने मित्रों सहित तीर्थ स्थानों के दर्शन के लिये चले गये।

मामा का हृदय ईर्ष्या की अनल में तप रहा था। वे मीमांसा शास्त्र खण्डन बरदास्त नहीं कर सके। जिस युक्ति से पद्मपाद ने अपनी पुस्तक में मीमांसा शास्त्र का खण्डन किया था, उसका प्रभाव निश्चय ही उस पर पड़ता।

अतः मामा ने निश्चय किया कि 'न रहेगा बाँस और न बजेगी बाँसुरी।' उन्होंने एक दिन अपने घर में आग लगा दी। पद्मपाद रामेश्वरजी की तीर्थ यात्रा में थे और उनका ग्रन्थ मामा द्वारा लगाई गई ज्वाला में भस्म हो

रहा था। मामा की इच्छा पूरी हुई। पद्मपाद का वह ग्रन्थ जलकर राख हो गया।

जब पद्मपाद रामेश्वर जी से लौट कर आये तो जले घर के साथ ग्रन्थ के भी जलने की बात सुनकर उनका हृदय असह्य वेदना से कराह उठा। कपटी मामा ने बनावटी सहानुभूति प्रकट किया। पद्मपाद ने उन्हें उत्तर दिया कि "ग्रन्थ जल जाने से मेरी बुद्धि तो जली नहीं है। मैं उसे पुनः तैयार कर लूंगा।" मामा के लिये यह और असह्य हो गया। पुस्तक के फिर तैयार होने की बात से उन्हें वज्र लगने जैसा आघात लगा। उन्होंने पद्मपाद की बुद्धि विकृत करने के विचार से उनके भोजन में विष मिलवा दिया। विष के कुप्रभाव से पद्मपाद की स्मरण शक्ति जाती रही।

पद्मपाद जब उस ग्रन्थ की रचना करने बैठे, तो वे कुछ न लिख सके। विष के प्रभाव से उनकी स्मरणशक्ति नष्ट हो गई थी। उन्हें बड़ा दुःख हुआ। तब उन्होंने शंकराचार्य के पास लौट जाने का निश्चय किया। शंकराचार्य अपने प्रिय शिष्य को वापस आया देखकर अत्यन्त प्रसन्न हुए। किन्तु पद्मपाद के कुम्हलाये मुख को देखकर उन्हें बड़ी चिन्ता हुई। पद्मपाद ने उनसे सारा वृत्तान्त कह सुनाया। शंकराचार्य ने उनको सान्त्वना देते हुए कहा—"तुमने एक बार अपना ग्रन्थ पढ़कर मुझे सुनाया था। वह ज्यों का त्यों मुझे कंठस्थ है। तुम लिख लो। मैं लिखाये देता हूँ।" पद्मपाद की आँखों से आँसू की अनवरत धार बहने लगी। उन्हें असीम संतोष मिला। उनका ग्रन्थ 'पन्चपादिका' पुनः तैयार हो गया।

●

शंकर द्वारा माता का श्राद्ध

शंकराचार्य की माता को विवश होकर जब अपने एकलौते बेटे को संन्यास ग्रहण करने की अनुमति देनी ही पड़ी, तो उन्होंने बालक शंकर से एक बात की याचना की थी। वह याचना यह थी कि अन्त समय में शंकर माता के पास रहें। शंकर ने यह बात मान ली थी। आखिर उनमें भी बेटे का हृदय था। शंकर ने जब यह बात स्वीकार कर लिया तो माता ने पूछा था—"बेटा, मैं तुझे किससे सूचना दूँगी। तेरे चले जाने के बाद मेरा अपना कौन रहेगा? कौन मेरे लिए तुझे ढूंढ़ता फिरेगा?"

बालक शंकर ने माता को आश्वस्त करते हुए दृढ़ शब्दों में कहा था—"माँ, मुझे किसी के ढूँढ़ने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी। मैं स्वयं तुम्हारी सूचना लेता रहूँगा। जब मेरी आवश्यकता हो, तो मुझे केवल याद भर कर लेना, मैं आ जाऊँगा।"

शृंगेरी स्थित शारदापीठ भारत विख्यात हो चुका था। स्वयं शंकराचार्य की अध्यक्षता में वहाँ सभी कार्य होते थे। वेदों के प्रचार-प्रसार और अद्वैत मत के प्रतिष्ठान में शंकराचार्य की दिनचर्य्या अबाधगति से चलती थी। उसी समय एकाएक उनके मन में एक दिन माता के दर्शन की इच्छा बलवती हो उठी। उन्होंने शारदापीठ का सम्पूर्ण कार्यभार अपने योग्य शिष्य सुरेश्वराचार्य को सौंपा और माँ दर्शन की इच्छा से अपने जन्म स्थान के लिये चल पड़े।

शंकराचार्य उन्ही मार्गों से होकर लौट रहे थे, जिनसे होकर आठ वर्ष की अवस्था में वे एक दिन गुरू की खोज में आये थे। तब के शंकर और आज के शंकर में बहुत अन्तर था—अब वे स्वयं गुरु पद प्राप्त कर चुके थे और वह भी जगद्गुरु का पद। आज उसी जगद्गुरु को माँ की ममता और स्नेह सूत्र उनके जन्म स्थान कालडी की ओर खींचे लिये जा रहा था। मार्ग में विश्राम किये बिना वे चलते जाते थे। भूख, प्यास या थकावट का अनुभव तक न होता था।

दिन-दिन और रात-रात भर चलने के बाद एक दिन शंकराचार्य कालडी पहुँच गये। माता का शरीर जीर्ण शीर्ण हो चुका था—वे मरण शय्या पर पड़ी थीं। अपने पुत्र को आया देखकर प्रेमाश्रु की अविरल धारा उनकी आँखों से बह चली। मनस्वी शंकराचार्य की साधना भी धैर्य को न सम्भाल सकी। माँ-बेटे का यह अभूतपूर्व अलौकिक मिलन देवताओं के लिये भी दर्शनीय हो गया था।

माता आर्याम्बिका ने अपने पुत्र से कहा—'बेटा, बहुत अच्छा हुआ कि तुम आ गये। मैं तो अब घड़ियाँ गिन रही हूँ। तुम्हारे लिए ही मेरे प्राण अटके थे। अब मैं निश्चिन्त होकर मर सकूँगी। यह भगवान का बड़ा अनुग्रह है। अब समय कम है। तुम मुझे कुछ उपदेश करो, जिससे मेरी भगवान के चरणों में प्रीति हो और मुझे उनकी प्राप्ति हो सके।'

शंकराचार्य ने माँ को निर्गुण का उपदेश किया। प्राण छुटते समय माता आर्याम्बिका को विष्णु के दर्शन हुए और उन्हें विष्णुलोक की प्राप्ति हुई।

उन्होंने स्वयं अपने हाथों अपनी माँ का दाह संस्कार किया। संन्यासी को दाह संस्कार नहीं करना चाहिए और अग्नि का भी स्पर्श नहीं करना चाहिए। जब शंकराचार्य अपनी माँ का दाह संस्कार करने की तैयारी करने लगे, तो उनके कुटुम्बियों एवं पड़ोसियों ने उनको सहयोग नहीं दिया। यहाँ तक कि किसी ने आग भी नहीं दिया। कहते हैं कि शंकराचार्य ने अपनी माता की दाहिनी भुजा से आग निकाली और थोड़ी सी लकड़ी इकट्ठा करके अपने दरवाजे पर ही माता के शव को जलाया। कुटुम्बियों और पड़ोसियों के इस व्यवहार पर उन्हें बहुत क्रोध आया। उसी क्रोध में उन्होंने शाप दे दिया कि 'अब से तुम्हारे घर के पास ही स्मशान रहेगा।' उसी शाप के अनुसार आज भी केरल के मालाबार हिस्से के ब्राह्मणों के शव उनके घरों के सामने दरवाजे पर ही जलाये जाते हैं।

शंकराचार्य की मातृभक्ति जैसा उदाहरण कहीं अन्यत्र मिलना बड़ा कठिन है। माता की इच्छा और अपनी श्रद्धा अनुसार संन्यासी जीवन के उन नियमों के बंधन में, जिनकी कोई आध्यात्मिक पृष्ठभूमि नहीं है, वे नहीं पड़े और अपने कुल तथा अन्य ब्राह्मणों के विरोध के बावजूद भी माता का श्राद्ध बड़ी तन्मयता एवं लगन से किया। माता आर्याम्बिका कोई साधारण स्त्री नहीं थीं। जीवन भर भगवत् भजन में लगीं, वे भी भगवत्मय हो गई थीं। जीवन में कभी भी

किसी कठिन परीक्षाकाल में उन्होंने अपना साहस नहीं छोड़ा। मर्यादाओं की सीमा में रहते हुए वे भगवान् में अपने को लगाये रहीं। शंकराचार्य के महान् और गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त करने में माता का बहुत बड़ा योगदान था। शंकराचार्य का रोम-रोम माता के स्नेह, प्यार और त्यागपूर्ण जीवन के प्रति कृतज्ञ था। आर्याम्बिका ने पति और पुत्र के हित एवं उनके कल्याण के लिये अपना कोई अलग अस्तित्व नहीं रखा। धन्य है वह माता और धन्य है वह पुत्र दोनों ने अपने क्षेत्र में अपने-अपने कर्तव्यों का पूर्ण निर्वाह किया।

माता के प्रति शंकराचार्य द्वारा स्थापित आदर्श आज भी भारतीय संस्कृति का सुदृढ़ सोपान है।

●

शंकराचार्य की दिग्विजय यात्रा

भारतीय संस्कृति में माता को सबसे उच्च और गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त है। जब महाराजा दशरथ की आज्ञा से मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान राम चौदह वर्ष के लिए वन जाने लगे, तब माता कौशल्या को प्रणाम करने के लिए उनके पास गये। उस समय माता कौशल्या जी ने उनसे यही कहा था कि "बेटा, तुम्हें बन जाने की आज्ञा यदि केवल तुम्हारे पिता ने दिया होता, तो मैं इसके विरोध में कुछ कहती। लेकिन तुम्हारी माँ कैकेयी की भी यही आज्ञा है, इसलिए तुम बन जाओ। माँ का स्थान पिता से बड़ा है, इसलिए उनकी आज्ञा के ऊपर मेरी आज्ञा होती, किन्तु रानी कैकेयी की आज्ञा के विरुद्ध कोई बात तो माँ की मर्यादा के प्रतिकूल होगी। इसलिए विचार कर देखने से मुझे यही प्रतीत होता है कि तुम्हारा बन जाना ही उचित है।"

शंकराचार्य ने माँ के पद के गौरव और उसकी महानता को बनाये रखने में कोई कोर कसर नहीं किया। फिर माँ के ऋण से उऋण हो कौन सकता है? जिन व्यक्तियों को माँ की सेवा का अवसर मिलता है, वे धन्य हैं। इसलिए जहाँ माँ का प्रश्न आया, वहाँ शंकराचार्य ने किसी बंधन को स्वीकार नहीं किया। उन्होंने लोगों के मना करने पर भी अपनी माँ का दाह संस्कार और श्राद्ध विधिवत् किया। उनके जीवन का यह कार्य बहुत ही माधुर्यपूर्ण है।

शंकराचार्य के परमप्रिय शिष्य पद्मपाद ने अपने ग्रन्थ 'पंचपादिका' के जल जाने पर यहीं कालडी में आकर अपने गुरु का दर्शन किया था शंकराचार्य को केरल आया जानकर वहाँ के राजा उनसे मिलने आये। राजा स्वयं विद्वान् तथा कवि थे और विद्वानों का आदर करते थे। यही राजा एक बार उनके बाल्यकाल में भी मिलने आये थे। तब से अब तक शंकराचार्य की यशोगाथा कई गुनी बढ़ चुकी थी। इस बार राजा ने शंकराचार्य का विशेष सम्मान किया। पद्मपाद की तरह राजा के भी लिखित तीन नाटक किसी प्रकार जल गये थे। जब राजा ने अपने नाटकों के जल जाने की बात कही और बड़े दुखी हुए तो शंकराचार्य ने उनसे कहा—"आप दुखी न हों। जब प्रथम

बार आप यहाँ मिलने आये थे, तब आपने नाटकों को मुझे सुनाया था। मुझे वे अब भी याद हैं। यदि आप लिखना चाहें तो मैं लिखा सकता हूँ।" राजा को बड़ी प्रसन्नता हुई और शंकराचार्य की कृपा से उन्होंने अपनी कृति पुनः तैयार कर ली।

अपने जन्म स्थान में शंकराचार्य को बड़ा मान-सम्मान मिला। माँ का श्राद्ध संस्कार करने के बाद थोड़े दिनों यहाँ रुककर उन्होंने अपने धर्म का प्रचार किया। फिर शिष्यों सहित वहाँ से चल पड़े।

शंकराचार्य के समय में आवागमन की आज जैसी सुविधा नहीं थी। राजा और राज्य के अधिकारी कहीं आने जाने के लिए हाथी और घोड़ों का उपयोग करते थे और शेष जनता पैदल यात्रा करती थी। शंकराचार्य को भी अपने शिष्यों सहित पैदल ही जाना पड़ता था। जब उनके जीवन की अलौकिक घटनाओं का हम अध्ययन करते हैं तो अनायास ही हमें ऐसा लगने लगता है कि वे मनुष्य नहीं—साक्षात् देवता थे। अपने जीवन काल में—और वह भी बत्तीस वर्ष के अल्प जीवन में, उन्होंने जितना कार्य किया, उतना कार्य केवल एक तो क्या, अनेक व्यक्ति सम्मिलित रूप से भी नहीं कर सकते।

शंकराचार्य तीर्थ स्थानों में जाते और वहाँ अपने मत का प्रतिपादन करते थे। रास्ते में जनता उनका खूब स्वागत करती थी। अनेक मतान्तरों में उलझे हुए लोग अपने मार्गदर्शन के लिए भी शंकराचार्य के पास आते थे। उनका कहना था—"ब्रह्म एक है। हम सभी ब्रह्ममय हैं। उससे अलग किसी वस्तु का अस्तित्व नहीं है। हमारे अस्तित्व का आधार ब्रह्म ही है।" उनकी दिव्य वाणी का जनता पर बहुत प्रभाव पड़ता था। तीर्थ स्थानों में एकत्रित जनता और एक तीर्थ से दूसरे तीर्थ में जाते समय रास्ते के गाँवों के लोगों, सब के ऊपर उनका अभूतपूर्व प्रभाव पड़ता था। परिणाम स्वरूप शंकराचार्य के मत का प्रचार बहुत तीव्र गति से हुआ।

जनता के ऊपर शंकराचार्य का स्थायी प्रभाव देखकर बौद्धों, जैनियों और उन सभी धर्म प्रचारकों को, जो किसी न किसी प्रकार जनता को केवल अपनी सुख सुविधा का साधन मानते थे, चिन्ता व्यापने लगी। अपने स्वार्थ की रक्षा के लिए उन्होंने शंकराचार्य का विरोध करना प्रारम्भ कर दिया। उनके मत का खण्डन किया। किन्तु इन सब का कोई प्रभाव नहीं हुआ।

शंकराचार्य के सामने शास्त्रार्थ में कोई ठहर नहीं सकता था। उनकी अद्भुत विद्वत्ता और अलौकिक प्रतिभा के सामने विरोधियों को पराजय स्वीकार करनी पड़ती थी। कहीं-कहीं शारीरिक बल प्रयोग और संघर्ष भी हुए, उनमें भी शंकराचार्य के मत के प्रचार करने वालों की ही विजय हुई।

अपने मत प्रचार के लिए शंकराचार्य सभी तीर्थ स्थानों में गये। काशी, प्रयाग, बद्रीनाथ, केदारनाथ आदि स्थानों में उनके जाने की बात हमें ज्ञात ही है। वे उत्तर भारत के अयोध्या, मथुरा, वृन्दावन, उज्जैन, काँची, हरिद्वार, कुरुक्षेत्र, कामरूप (आसाम) आदि और दक्षिण भारत के रामेश्वरम् जगन्नाथ-पुरी, द्वारिकापुरी, गणवर, चिदाम्बर, मध्यार्जुन, वक्रतुण्डपुरी, विदर्भनगर, श्रीपर्वत आदि स्थानों में गये। इस प्रकार, भारत के एक कोने से दूसरे कोने में जाकर उन्होंने जनता को "ब्रह्म एक है" का उपदेश किया। उनमें फैली भ्रान्तियों को दूर किया और अपने मत का विरोध करने वालों को परास्त कर विजय प्राप्त किया। दसों दिशाओं में उनकी यश की गाथा गाई जाने लगी। इसीलिए शंकराचार्य की इन यात्राओं को हम दिग्विजय यात्रा कहते हैं।

●

शंकराचार्य का शरीर त्याग

इस संसार की गति विचित्र है। यहाँ की किसी वस्तु में स्थायित्व नहीं है। राजा, रंक, योगी, यती सब को काल एक न एक दिन डसता है और सभी इस नश्वर शरीर को त्याग देते हैं। इतने लाड़-प्यार, आदर-सम्मान से पालित-पोषित शरीर चिता में जलता है और कुटुम्बी तथा मित्र सब खड़ा देखते रहते हैं। इसीलिए महात्मा जन यह उपदेश करते हैं कि संसार में रहते हुए भी हमें उसमें लिप्त नहीं होना चाहिए। सब काम करते हुए भी संसार से आसक्ति नहीं होनी चाहिए। अच्छे-अच्छे, सब को प्रिय लगने वाले, सब को आनन्द देने वाले काम करने चाहिए। लेकिन हम जो कार्य करें, उसे भगवत् कार्य समझें। गीता का भी यही उपदेश है और इसी को योगी-मुनि सभी भिन्न-भिन्न तरह से करते और गाते हैं।

शंकराचार्य का जीवन इसी परम्परा का एक दिव्य और आदर्श जीवन था। अपने जीवन का एक क्षण भी उन्होंने व्यर्थ में नहीं गँवाया। जीवन के अन्तिम क्षण तक वे कार्य में रत रहे और जो भी उन्होंने किया, उसे भगवान का कार्य माना। वे दिव्य पुरुष थे और जानते थे कि इस शरीर की अन्तिम गति क्या है ? इसलिए अपने एक-एक क्षण का उपयोग किया।

प्राचीन काल में काश्मीर संस्कृत विद्या के लिये प्रसिद्ध था। अपनी दिग्विजय यात्रा के समय शंकराचार्य वहाँ भी गये। वहाँ शारदा का मन्दिर है। उस समय उसकी बड़ी प्रसिद्धि थी। उस मन्दिर में चारों ओर चार दरवाजे थे। पूरब, पश्चिम और उत्तर के दरवाजे तो खुलते थे, किन्तु दक्षिण का फाटक कभी नहीं खुलता था। कहा जाता था कि भारत के दक्षिण भाग में कोई सर्वज्ञ व्यक्ति नहीं हुआ था, इसलिए वह फाटक कभी नहीं खुला। शंकराचार्य दक्षिण की इस कमी को मिटा देने के उद्देश्य से शारदा मन्दिर के दक्षिण द्वार से मन्दिर में प्रवेश करने के विचार से ज्योंही बढ़े कि वहाँ के पंडितों की एक भीड़ ने उन्हें घेर लिया। पंडितों ने निवेदन किया कि इस द्वार से वही व्यक्ति मन्दिर में प्रवेश पा सकता है, जो अपनी सर्वज्ञता को प्रमाणित कर दे। शंकराचार्य तो यह चाहते ही थे। शास्त्रार्थ प्रारम्भ हुआ। वहाँ भी शंकराचार्य की विजय हुई और उन्होंने दक्षिण द्वार से मन्दिर में प्रवेश कर दक्षिण भारत की सर्वज्ञता की कमी को दूर कर दिया।

लेकिन ज्योंही वे शारदा जी की मूर्ति के पास पहुँचे, त्योंही आकाशवाणी हुई—"कोई भी अपवित्र व्यक्ति इस पवित्रमूर्ति को छूने का अधिकारी नहीं है। परकाय प्रवेश करके कामकला का ज्ञान प्राप्त कर आपने कामिनियों के साथ रमण किया है। यह कार्य संन्यासी के लिए सर्वथा निन्दित है। इसलिए सर्वज्ञता का प्रमाण देकर भी आप इस मन्दिर में प्रवेश पाने के अधिकारी नहीं हैं।"

शंकराचार्य ने उत्तर दिया—"मैंने अपने जीवन में कोई पाप कर्म नहीं किया है। पाप की छाया तक मैंने नहीं देखी। परकाय प्रवेश कर मैंने कामकला अवश्य सीखी, लेकिन जो शरीर यहाँ इस समय खड़ा है, इस शरीर से नहीं। वह शरीर दूसरा था और उसे मैं छोड़ चुका हूँ। अतः उसके लिए इस शरीर को अपवित्र नहीं माना जा सकता।"

शारदा ने आचार्य शंकर की उक्ति स्वीकार कर ली और वे मन्दिर में साधिकार प्रवेश किये।

आचार्य शंकर वहाँ से अपनी शिष्य मण्डली के साथ नैपाल में पशुपति नाथ के मन्दिर में गये। वहाँ उन्होंने बौद्धों के प्रभाव को कम कर पशुपति नाथ की पूजन की विधिवत व्यवस्था करवाई। बदरीनारायण की पूजा के लिए जिस प्रकार शंकराचार्य ने केरल के नम्बूदरी ब्राह्मण नियुक्त किये थे, उसी प्रकार पशुपतिनाथ के मन्दिर में भी नम्बूदरी ब्राह्मण की नियुक्ति की गई। उस समय से केरल के नम्बूदरी ब्राह्मण परिवार नैपाल में बस गये। बद्रीनारायण के मन्दिर की भाँति पशुपतिनाथ के मन्दिर के पुजारी आज भी नम्बूदरी ब्राह्मण ही होते हैं।

अपने मत और उपदेशों के निरन्तर प्रचार और प्रसार के लिए शंकराचार्य ने भारत के चारों भागों में चार पीठों की स्थापना किया। मैसूर के श्रृंगेरी क्षेत्र में शारदापीठ, जगन्नाथपुरी में गोवर्धनपीठ, द्वारिकापुरी में द्वारिकापीठ और बद्रीनारायण में ज्योतिर्पीठ। इन चार पीठों का कार्यभार उन्होंने अपने चार पट्ठ एवं सर्वगुण सम्पन्न शिष्यों को सौंप दिया और इसके संचालन के कुछ नियम निर्धारित कर दिया।

इतना सब करते-करते आचार्य शंकर का बत्तीसवां वर्ष आ पहुँचा। अपने कार्यों को अब वे अन्तिम रूप दे रहे थे। अपने स्थापित मठों के लिए उन्होंने कुछ लिखित नियम बनाये और उन नियमों के कड़ाई से पालन करने का आदेश किया। उनके तिरोधान के बाद शिष्यों में उनके विचारों को लेकर कोई मतभेद पैदा न हो जाय, इसलिये अपना अन्त समीप जानकर उन्होंने एक बार सबको

एक जगह एकत्रित करके अपने उद्देश्यों से उन्हें परिचित कराया। जिन शिष्यों ने किसी प्रकार की शंका उठाई, उनका निवारण किया।

शंकराचार्य का स्वर्गवास किस स्थान पर हुआ, इस सम्बन्ध में कोई एकमत नहीं है। कुछ लोग कहते हैं कि केरल में अथवा शृंगेरी क्षेत्र में उन्होंने अपना शरीर त्यागा और कुछ विद्वानों का मत है कि उनका स्वर्गवास बद्रीनारायण क्षेत्र में हिमालय की गोद में हुआ।

प्राचीन श्रुतियों से ज्ञात होता है कि चारों पीठों की स्थापना करके और उनका कार्य भार अपने योग्य शिष्यों को सौंप कर शंकराचार्य बद्रीनारायण क्षेत्र में चले गये थे। वहीं हिमालय में उन्होंने कुछ दिन निवास किया। उनके अन्त समय में उनके सभी प्रमुख शिष्य उनके पास थे और सबको उपदेश करते हुए उन्होंने एक दिन अपना शरीर त्याग दिया।

संसार का यही नियम है। यहाँ जो जन्म लेता है, वह मरता है। लेकिन कुछ व्यक्ति ऐसे भी होते हैं, जो मर कर भी नहीं मरते। जगद्गुरु शंकराचार्य एक ऐसे ही महामानव थे—उनके द्वारा प्रतिपादित मत और उपदेश आज भी हमारा पथ प्रदर्शन कर रहे हैं और भारतीय संस्कृति के आधार स्तम्भ बन गए हैं।

शंकराचार्य जैसे महामानव आये दिन जन्म नहीं लिया करते। कई सौ वर्षों में कहीं एक बार इस प्रकार के किसी महापुरुष का जन्म होता है। ऐसे महापुरुषों के जन्म का कोई विशेष प्रयोजन होता है। उस प्रयोजन की समाप्ति पर वह व्यक्ति भी इस नश्वर शरीर का त्याग कर देता है। जो सब की अन्तिम गति है, वही उसको भी प्राप्त होती है। लेकिन मरने के बाद जैसे यह संसार सब को भूल जाता है, महापुरुषों को नहीं भुला पाता। वे संस्कृति, धर्म तथा इतिहास के अभिन्न अंग होकर सदा हमें अपने उच्च और आदर्श सिद्धान्तों द्वारा प्रेरणा देते रहते हैं।

शंकराचार्य तो केवल बत्तीस वर्ष की अल्पायु में ही इस संसार से विदा हो गये। लेकिन इतने ही कम सयम में उन्होंने यहाँ की धार्मिक एवं सांस्कृतिक जीवन को पूर्ण रूप से प्रभावित कर लिया। बौद्धिक एवं आध्यात्मिक क्षेत्र में क्रांतिकारी परिवर्तन लाकर, भूले भटकों को उचित मार्ग दर्शन देकर तथा धर्म और मजहब के झगड़ों से बिखरती मानवता को टूक-टूक होने से बचाकर, उन्होंने इतिहास को एक नया मोड़ दिया था। धार्मिक और सांस्कृतिक जीवन में शंकराचार्य द्वारा स्थापित प्रतिमान युग-युग तक अपने इस अमर शिल्पी की कहानी कहते रहेंगे।

●

रामानुजाचार्य

जन्म — संबत् १०७४

अवसान — संबत् ११९४

गुरुशुश्रूषया भक्तया सर्वलब्धार्पणेन ।
संगेन साधुभक्तानाभीश्वराराधनेन ।।
श्रद्धया तत्कथायां च कीर्तनैर्गुणकर्मणाम् ।
तत्पादाम्बुरुहध्यानात् तल्लिङ्गेक्षार्हणादिभिः ।।

—श्रीमद्भागवत महापुराण ७।७।३०:३१

जन्म

अपना यह दिव्य देश प्राचीन समय से महात्माओं एवं सन्तों के प्रादुर्भाव का स्थान रहा है। गङ्गा यमुना की पावन धारा से सिंचित इस पवित्र धरती पर स्वयं भगवान् राम और कृष्ण ने अवतार लेकर इसे अक्षुण्ण पद प्रदान किया है। यही नहीं, महाभारत के रणस्थल कुरुक्षेत्र में भगवान् श्रीकृष्ण की अमर-वाणी ''गीता'' भी इसी धरती की देन है। अँग्रेज इतिहासकारों ने भारत में गुलामी की जड़ को अत्यधिक सशक्त बनाये रखने के उद्देश्य से हमारे प्राचीन वैभव और संस्कृति की उपेक्षा करके भारतीय इतिहास को बहुत ही असंगत रूप से प्रस्तुत किया है। लेकिन वेद और उपनिषदों का जिन्हें थोड़ा भी ज्ञान है, वे अच्छी प्रकार जानते हैं कि सभ्यता और संस्कृति का सर्वप्रथम प्रादुर्भाव इसी देश में हुआ था।

प्राचीन वैभव तथा आदर्शयुक्त परम्पराओं से परिपूर्ण इस धरती पर जिन सन्त, महात्मा तथा महापुरुषों ने जन्म लिया है, उनमें से रामानुजाचार्य का नाम भारतीय परिवारों में बड़े आदर और श्रद्धा से लिया जाता है। महात्मा बुद्ध और शंकराचार्य के बाद रामानुजाचार्य ऐसे व्यक्ति थे, जिनका प्रभाव सम्पूर्ण देश पर पड़ा और जिन्होंने इतिहास की धारा को एक नया मोड़ दिया।

मद्रास शहर से लगभग ४० किलोमीटर की दूरी पर पेरम्बूदूर नामक एक गाँव है। उस गाँव में ब्राह्मणों की संख्या अधिक थी। उनमें से एक का नाम केशवाचार्य था। वे कर्मनिष्ठ और कर्तव्यपरायण ब्राह्मण थे। अपने गाँव के बीचोबीच स्थित विष्णु भगवान् के मन्दिर में बड़ी लगन और श्रद्धापूर्वक भगवान् की पूजा-आरती करते और प्रसाद रूप में जो कुछ भी प्राप्त हो जाता, उसे ग्रहण करते थे। उनके जीवन में किसी तरह का असन्तोष नहीं था।

श्री यमुनाचार्य नामक एक उच्चकोटि के महात्मा उन दिनों श्रीरंगनाथजी के मन्दिर में निवास करते थे। श्री यमुनाचार्य संस्कृत के बहुत बड़े विद्वान् और कवि थे। उनके द्वारा रचित श्लोक भक्ति-भावना से परिपूर्ण होते थे और जन-साधारण में भक्ति प्रचार के माध्यम थे। श्रीरङ्ग क्षेत्र में इनका बहुत प्रभाव था। दूर-दूर से पैदल चलकर हजारों वैष्णव जन इनके दर्शन हेतु आते थे। श्री यमुनाचार्य के कुछ ऐसे शिष्य थे, जो संन्यास ग्रहण कर उन्हीं के साथ रहते थे।

ऐसे ही शिष्यों में से एक श्री पेथियातिरूमलैनम्बि अथवा श्री शैलपूर्ण थे। ये श्री यमुनाचार्य के प्रधान शिष्य थे।

श्री शैलपूर्ण की दो बहनें थीं। बड़ी का नाम कान्तिमती और छोटी का नाम महादेवी था। बहनों के कुआँरी होने के कारण श्री पेरियातिरूमलैनम्बि चिन्तित रहते थे। उनका संन्यासी मन गुरु-सेवा से कभी-कभी विचलित होकर घर की सुधि लेने के लिए, उन्हें विवश कर देता था। वे उन कन्याओं का विवाह कर अपने को इस बन्धन से मुक्त कर लेना चाहते थे। दैवयोग से उनका ध्यान श्री केशवाचार्य की ओर गया। वे सब प्रकार से सुयोग्य थे। श्री केशवाचार्य बहुत ही शीलवान् और धर्मात्मा प्रकृति के व्यक्ति थे। वे श्री शैलपूर्ण की धार्मिक जगत् में लोकप्रियता एवं उनकी भगवत् भक्ति से परिचित थे। अतः केशवाचार्य ने उनके आग्रह पर उनकी बड़ी बहन कान्तिमती से विवाह किया था। छोटी का विवाह मधुरमङ्गल ग्राम निवासी कमलनयन भट्ट के साथ हुआ था। दोनों बहनों का योग्य और सम्पन्न घरों में विवाह हो जाने के बाद महात्मा श्री शैलपूर्ण के सिर से मानों पहाड़ जैसा बोझ उतर गया हो। उन्हें अपार शान्ति मिली।

युवा अवस्था को पार करते-करते श्री केशवाचार्य की ख्याति वैष्णव जनों में पर्याप्त रूप से व्याप्त हो गई। अपनी भक्ति-परायणता, विनम्र स्वभाव एवं कवि-हृदय के कारण सकल समाज उन्हें आदर देता था। घर में भी किसी वस्तु का अभाव नहीं था। लेकिन सम्पन्नता एवं यशपूर्ण जीवन के इस वातावरण में भी श्री केशवाचार्य के हृदय में कभी-कभी एक प्रकार की टीस पैदा होती थी। गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने के बहुत वर्षों बाद सन्तान न होने के कारण बच्चे का अभाव उन्हें बहुत बुरी तरह खटकने लगा। भला पत्तियों में पानी देकर पेड़ को कब तक हरा-भरा रखा जा सकता है? बाहरी आडम्बर मन को कब तक बहला सकते हैं? तेल के अभाव में दीपशिखा कब तक प्रज्वलित रह सकती है? केशवाचार्य विज्ञ पुरुष थे। गृहस्थाश्रम जीवन का उद्देश्य सन्तान की उत्पत्ति करके पितरों को सन्तुष्ट करना है। हिन्दू शास्त्रों के अनुसार हमारे स्वर्गवासी पूर्वज अपनी सन्तान को सदा-सर्वदा अपने कुल को अक्षुण्ण रखने का आशीर्वाद देते हैं। सभी आश्रमों में गृहस्थ आश्रम को महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। अतिथि-सत्कार, जन-सेवा, समाज-चिन्तन, अपने पूर्वजों के प्रति कृतज्ञता की भावना आदि का सद्विचार और अन्यत्र कहाँ सुलभ हो सकता है? अपने कुल के लोगों द्वारा अच्छे कृत्यों को सम्पादित होते देखकर हमारे स्वर्ग-

वासी पूर्वज आनन्दित होकर हमें कुल की परम्पराओं को कायम रखने का आशीर्वाद देते हैं। निःसन्तान रह जाने पर कुल परम्पराओं के समाप्त हो जाने और इस प्रकार पूर्वजों का कोपभाजन बनने का श्री केशवाचार्य के मन में बड़ा भारी दुःख था।

श्री केशवाचार्य विष्णु के परम भक्त थे। भगवान् अपने भक्तों के मन की बात को जानते हैं। वे केशवाचार्य के मन की बात समझ गये। अतः भगवान् की प्रेरणा से केशवाचाय ने समुद्र के किनारे तिरूवल्लिक्केणिका में श्रीमत्पार्थ-सारथि भगवान् के समीप अपनी पत्नी समेत यज्ञ, हवन आदि करना प्रारम्भ किया। पुत्र-प्राप्ति के निमित्त संकल्प से किया गया यज्ञ बहुत विधि-विधान से सम्पन्न हुआ और फिर उसका विधिवत् समापन किया गया।

समापन की रात्रि बेला में श्री केशवाचार्य ने देखा कि जैसे स्वयं श्रीमत्पार्थ-सारथि भगवान् कह रहे हों—"मैं तुम्हारी पूजा और भक्ति-भावना से पूर्ण संतुष्ट और प्रसन्न हूँ। मैं स्वयम् तुम्हारे पुत्र के रूप में अवतार लूँगा और पूर्वाचार्यों द्वारा प्रतिपादित आदर्शों की पुनर्स्थापना करके भूली-भटकी मानवता को सद्गति दूँगा।"

श्री केशवाचार्य ने स्वप्न की बात अपनी धर्मपत्नी से कहा। इस दिव्य स्वप्न की बात सुनकर दोनों पति-पत्नी परम प्रसन्न और आनन्दित हुए। इसके बाद वे अपने गाँव लौट आये। इस घटना के लगभग एक वर्ष बाद संवत् १०७४ के चैत्रमास के शुक्लपक्ष की पंचमी दिन बृहस्पतिवार को श्री केशवाचार्य के घर का वातावरण आनन्द और उल्लास से पूरिपूर्ण हो उठा। माता कान्तिमती के गर्भ से भगवान् ने अवतार लिया था। केवल केशवचार्य के घर का ही नहीं, वरन् आस-पास के वातावरण में अभूतपूर्व परिवर्तन स्पष्ट दृष्टि-गोचर होने लगा। नदियों के जल में तेजी आ गई, आसमान में उमड़-उमड़ कर बादल घिरने लगे, जानवरों एवं चिड़ियों के उछल-कूद के कारण वातावरण में उमंग आ गया तथा जन-जीवन में एक अजीब उत्साह, उल्लास तथा स्फूर्ति का संचार हो गया था।

श्री केशवाचार्य के आनन्द की सीमा न रही। पंडितों तथा ज्योतिषियों को बुलाकर उन्होंने बच्चे के ग्रह-नक्षत्रों का विचार करवाया और उन्हें भरपूर दान-दक्षिणा देकर बिदा किया।

●

बचपन और विवाह

कान्तिमती के बालक के जन्म के कुछ ही दिनों बाद उनकी छोटी बहन महादेवी ने भी एक पुत्ररत्न को जन्म दिया। सूतिकागृह से निकलने तथा कुछ काल स्वास्थ्य लाभ करने के उपरान्त महादेवी के मन में अपनी बड़ी बहन के पुत्र को देखने की इच्छा उत्पन्न हुई। अतः एक दिन शुभमुहुर्त में वे अपने बच्चे को लेकर बड़ी बहन के घर गईं। अपनी छोटी बहन और उसके नवजात शिशु को देखकर कान्तिमती के हर्ष का वारापार न रहा। इधर बहन से मिलकर और उसके बच्चे को देखकर महादेवी परम प्रसन्न हुईं। कान्तिमती ने अपनी बहन से कुछ काल तक अपने साथ रहने का आग्रह किया। भला ऐसे शुभ अवसर की कौन उपेक्षा करेगा ? बालक के जन्म के साथ जैसे वहाँ आनन्द का उदधि उमड़ पड़ा हो। सम्पूर्ण वातावरण अत्यन्त आकर्षक और उल्लासपूर्ण हो गया था। वहाँ से जाने का मन ही नहीं होता था। अतः महादेवी ने बड़ी बहन का भावपूर्ण आग्रह स्वीकार कर कुछ काल तक वहीं निवास करने का निश्चय किया।

जब श्री शैलपूर्ण जी को यह ज्ञात हुआ, तो अपनी बहनों से मिलने तथा बहनों को देखने की इच्छा से वे भी कान्तिमती के गाँव आ पहुँचे। साधु भाई को देखकर दोनों बहनें हर्षित हुईं। इधर बहुत दिनों के बाद अपनी कन्या-तुल्य इन बहनों को प्रसन्नचित्त देखकर श्री शैलपूर्ण जी का हृदय उल्लास से भर गया। दोनों बहनों को देखकर वे प्रसन्न हो गये। बालक रामानुज को देखकर उन्हें समझने में देर न लगी कि वह कोई साधारण बालक नहीं था। बालक में दैवलक्षण देखकर एक पूर्ववर्ती महात्मा की कही इस बात का उन्हें स्मरण हो आया कि अमुक समय में पेरम्बूदूर में आदि शेष भगवान् अवतार ग्रहण करेंगे। वही आदि शेषजी, जिन्होंने राम-युग में भगवान् रामचन्द्र के अनुज लक्ष्मणजी के रूप में जन्म लिया था।

अतः बहुत सोच-विचार एवं मानसिक मंथन के उपरान्त श्री शैलपूर्ण जी ने कान्तिमती के पुत्र का नाम रामानुज तथा महादेवी के पुत्र का नाम गोविन्द रखा। समय पर इन बालकों का अन्नप्राशन, कर्णवेध, विद्यारम्भ तथा उपनयन संस्कार सम्पन्न हुआ। कालान्तर में बालक रामानुज ही रामानुजाचार्य के नाम से प्रसिद्ध हुए।

पाठशाला में बालक रामानुज की असाधारण एवं असामान्य प्रतिभा देखकर उनके अध्यापक उनसे बहुत प्रसन्न रहते थे। केवल एक बार कही या पढाई गई बात उन्हें कंठस्थ हो जाती थी। उनकी बुद्धि किसी यन्त्र में लगी सूक्ष्म सुई की नोक की तरह प्रखर थी। लेकिन उनमें दूसरे बालकों जैसी चपलता नहीं थी। बचपन से ही वे विज्ञ पुरुषों की तरह गम्भीर और विचारवान् थे।

ऐसे प्रतिभा-सम्पन्न बालक के पिता होने का गौरव प्राप्त कर श्री केशवाचार्य सदैव आनन्दमग्न रहते थे। उन्हें सांसारिक वात-व्याधि से एकदम छुटकारा मिल चुका था। श्रीविष्णु की पूजा-अर्चना और परिवार की देख-रेख में उनका सम्पूर्ण समय बड़े आनन्द से व्यतीत हो जाता था।

जब रामानुज सोलह वर्ष के हुए, तब पिता के मन में घर में पुत्रवधू लाने की इच्छा प्रबल हो उठी। श्री केशवाचार्य ने अपनी पत्नी कान्तिमती से परामर्श किया। वे भी उतनी ही उत्सुक थीं। अतः एक सुन्दर रूपवती और गुणवती कन्या से रामानुज का विवाह कर दिया गया। घर में पुत्रवधू के आगमन से माता-पिता की प्रसन्नता का वारापार न रहा। रामानुज स्वस्थ तथा सुन्दर थे और साथ ही विद्वान् भी। जिस लड़की से उनका विवाह हुआ, वह भी सुन्दर और गुणवती थी। सास-ससुर का आदर करती थी और आज्ञाकारिणी थी। सब मिलाकर सोना में सुगन्ध जैसी स्थिति थी।

लेकिन समय चक्र से उस परिवार का आनन्दमय वातावरण सहन न हुआ। रामानुज के विवाह के कुछ ही महीनों बाद उनके पिता श्री केशवाचार्य का स्वर्गवास हो गया। जैसे दुःख की बिजली गिर गई। आचार्य परिवार शोक-समुद्र में डूब गया। देवी कान्तिमती अधीर हो उठीं। रामनुज को पिता के स्वर्गवास से बहुत बड़ा आघात लगा। कुछ काल के लिए तो वे एकदम किंकर्तव्यविमूढ़ से हो गये। लेकिन बुद्धिबल से उन्होंने अपने को संयत किया। माता को समझाया। पत्नी को ढाढ़स दिया। धीरे-धीरे परिवार की सामान्य स्थिति हुई। लेकिन पिता के न रहने पर जैसे उस स्थान और मकान से ही उन्हें अरुचि हो गई। अतः उन्होंने पूर्वजों का वह स्थान छोड़ दिया और कांचीपुरम् में एक मकान बनवाकर सपरिवार वहीं रहने लगे।

हम प्राचीन काल से यह सुनते आये हैं कि—"होनहार विरवान के होत चिकने पात।" धन-सम्पत्ति तो छिपाकर रखी जा सकती है, किन्तु विद्वत्ता और गुण छिपाये नहीं बनता। रामानुज में किसी प्रकार का आडम्बर नहीं था, वे अपनी विनम्रता के कारण अपने पाण्डित्य को छिपाये रखने का प्रयत्न करते थे। लेकिन यह सम्भव नहीं था। अतः कांचीपुरम् में उनके पाण्डित्य की चर्चा होने लगी और साथ ही वे लोकप्रिय भी होने लगे। ●

यादव प्रकाश की पाठशाला

कांचीपुरम् का वातावरण रामानुज के सर्वथा अनुकूल था। वे सबसे मिलकर रहते और सभी उन्हें आदर और स्नेह देते थे। उनके अच्छे पंडित होने की चर्चा घर-घर में थी। इसीलिए वे काफी लोकप्रिय हो गये थे। लेकिन उनका कोई निश्चित कार्यक्रम या व्यवसाय नहीं था। अतः अनिश्चितता की स्थिति से उनका मन कुछ ऊबने-सा लगा था। उन दिनों कांचीपुरम् में यादव प्रकाश नाम के एक पंडित रहते थे। वे एक संस्कृत पाठशाला का संचालन करते थे। उनकी विद्वत्ता की चर्चा से दूर-दूर के विद्यार्थी उनसे पढ़ने के लिए आते थे। रामानुज भी उस पाठशाला में जाने लगे।

यादव प्रकाश रामानुज की प्रतिभा और विनम्रता से बहुत प्रभावित हुए। अपने अन्य शिष्यों की अपेक्षा वे उन्हें अधिक महत्व देते थे। लेकिन यह भाव स्थिर न रह सका। यादव प्रकाश बड़े विद्वान् थे। अद्वैत सिद्धान्त पर प्रतिपादित उनका मत आज भी "यादवीय सिद्धान्त" के नाम से प्रसिद्ध है। वे शुद्ध अद्वैतवादी थे। विश्व को ईश्वर का एक रूप मानते थे— वह रूप जो सदा सर्वदा परिवर्तनशील है। परमपूज्य शंकराचार्य की तरह वे विश्व को ब्रह्म का एक रूप न मानकर अपनी तार्किक बुद्धि के द्वारा चंचल और परिवर्तनशील होने के कारण विश्व को हेय समझते थे।

रामानुज का मन भक्ति-भाव से ओत-प्रोत था। उनकी दृष्टि में तो सम्पूर्ण सृष्टि ब्रह्म की ही रूप-माया है और वे एक सेवक तुल्य थे। भक्त के हृदय में किसी प्रकार की द्विविधा नहीं होती। उनका मार्ग सीधा और सरल होता है। अतः रामानुज यादव प्रकाश की बहुत-सी बातों से सहमत नहीं होते थे। कुछ समय तक तो वे उनकी बातों को सुनते रहे, किन्तु जब वे शास्त्रों एवं पुराणों में कही गई बातों का खण्डन कर, उन पर अपनी व्याख्या देने लगे, तो यह रामानुज से सहन नहीं हुआ। शास्त्रों का असंगत अर्थ करने पर रामानुज यादव प्रकाश से संयत रूप में अपना विरोध प्रकट कर देते थे। लेकिन यादव प्रकाश में सहनशक्ति का सर्वथा अभाव था। अपनी भूल को दिखाने वाले को वे अपना

विरोधी मान लेते थे। एक ऐसे ही अवसर पर उन्होंने रामानुज को अपनी पाठशाला में आने से मना कर दिया।

लेकिन रामानुज का स्वभाव अलौकिक और विचित्र था। उनकी दृष्टि में जो यथार्थ होता था, उसे वे करते थे। इसके बाद किसी प्रकार का मालिन्य उनके मन में नहीं होता था। अतः यादव प्रकाश के मना करने के बाद भी वे उनकी पाठशाला में पूर्ववत् जाते थे और अन्य विद्यार्थियों की तरह शिक्षा ग्रहण करते थे।

यादव प्रकाश के मन में अपनी लघुता के कारण वैर भाव पैदा हो गया था। वे रामानुज को अब अपना शिष्य न मानकर एक विरोधी मानने लगे थे। जब उन्हें यह पूर्ण रूप से ज्ञात हो गया कि शिक्षा और पाण्डित्य के क्षेत्र में तो इसको परास्त करना सहज नहीं है, तब उनके मन में जघन्य अपराध करने का विचार उदय होने लगा। अपने दूसरे विद्यार्थियों से विचार कर उन्होंने एक योजना तैयार की।

यादव प्रकाश ने अपने शिष्यों से उत्तर भारत के तीर्थों एवं गंगा स्नान का प्रलोभन देकर अपने साथ चलने के लिए तैयार किया। अपने पट्ठ शिष्यों को रामानुज के पास भेजकर उन्हें भी साथ चलने के लिए तैयार कर लिया। रामानुज को जाता देख उनका मौसेरा भाई गोविन्द भी साथ चलने के लिए तत्पर हो गया। गोविन्द रामानुज का समवयस्क था और उनसे बहुत स्नेह रखता था। जब से आचार्य परिवार कांचीपुरम् में रहने लगा, गोविन्द भी यहीं आकर यादव प्रकाश का शिष्य हो गया था। महिमामयी माँ को जब रामानुज के तीर्थ की तैयारी की बात मालूम हुई, तो भीतर से उनका मन दुःखी हो उठा। किन्तु प्रत्यक्ष कुछ कह कर वे इस शुभ कार्य में अवरोध पैदा करना नहीं चाहती थीं। अतः यात्रा-सुरक्षा सम्बन्धी अनेक आदेश-निदेश के बाद उन्होंने बेटे को तीर्थयात्रा करने की आज्ञा दे दी।

रामानुज का स्वभाव तो एकदम विचित्र था। वे कम बोलते थे और अनेक के बीच में रहते हुए भी एक प्रकार से अकेले ही रहते थे। लेकिन गोविन्द यादव प्रकाश या उनके दूसरे शिष्यों के साथ रहता था और उनकी बातों में दिलचस्पी भी लेता था। इस तथाकथित तीर्थयात्रा का रहस्य उसे ज्ञात हो गया। यात्रा के एक पड़ाव पर अवसर और एकान्त पाकर उसने रामानुज से कहा कि—

"अब आप आगे यात्रा नहीं करेंगे। इस तीर्थयात्रा का उद्देश्य आपको मार डालने का है। आप यहीं से अपना रास्ता बदलकर वापस लौट जायँ।"

जब निश्चित समय पर रामानुज पड़ाव पर नहीं लौटे, तब उनके सहपाठी उनकी तलाश में निकले। जंगल में उनका नाम लेकर पुकार-पुकार कर सब लौट आये। गोविन्द सब कुछ जानते हुए भी अनभिज्ञ बना रहा। घोर अन्धकार और जंगल का मार्ग—रात तक रामानुज के लौटकर न आने से यादवजी और उनके विश्वासपात्र शिष्यों ने सहज ही में अनुमान लगा लिया कि जो कार्य उन्हें करना था, उसे जंगल के किसी हिंसक पशु ने कर दिया। मन-ही-मन वे सब बहुत प्रसन्न हुए। गोविन्द और रामानुज के निकट सम्बन्ध को जानने के कारण गोविन्द के साथ बनावटी सहानुभूति प्रकट करने लगे। यादव प्रकाश ने तो जीव की नश्वरता पर एक भाषण ही दे डाला।

गोविन्द द्वारा इस षडयन्त्र की बात सुनकर रामानुज कुछ क्षणों के लिए तो किंकर्तव्यविमूढ़ से हो गये थे। लेकिन शीघ्र ही उनमें पूर्ण चैतन्यता आ गई। उनके शरीर में किसी अगोचर शक्ति द्वारा बल का संचार होने लगा और उन्हें ऐसा अनुभव हुआ कि जैसे कोई कह रहा हो—"डरने की क्या बात है? तुम अकेले नहीं हो, नारायण तुम्हारे साथ हैं?"

गोविन्द से हुई वार्तालाप के बाद रामानुज पीछे को लौट पड़े। रात का समय, निर्जन वन और अनदेखा रास्ता। ऐसी संकट की घड़ी में भगवान् के बिना दूसरा कौन सहायक हो सकता है? रास्ता चलते-चलते वे थक गये और उन्हें नींद आने लगी। एक पेड़ के नीचे विश्राम करने के विचार से बैठते ही उन्हें नींद आ गई। आँखें खुलीं, तो सवेरा हो चुका था। रात की थकावट समाप्त हो गई थी और शरीर में पूर्ण स्फूर्ति आ गई थी। मार्ग चलने की उनकी शक्ति लौट आई थी। लेकिन किधर जायँ, यही उनकी समझ में नहीं आ रहा था। इसी समय एक व्याध दम्पति वहाँ आ पहुँचा। इस ब्राह्मण बालक को उस निर्जन वन में, जहाँ दिन-दहाड़े हिंसक पशु घूमते रहते हैं, अकेले देखकर व्याध की पत्नी में माँ की ममता जाग उठी। रामानुज के पास जाकर वह बोली—"बेटा, इस भयंकर जंगल में तुम अकेले कैसे आये? यहाँ हिंसक जीव रहते हैं। तुम कहाँ के रहने वाले हो?" रामानुज ने कहा—"यहाँ से काफी दूर दक्षिण में काँचीपुरम् एक स्थान है। मैं वहीं का रहने वाला हूँ।" व्याध बोला—"हम लोग भी उधर ही जा रहे हैं। तुम्हें यहाँ अकेला देखकर तुम्हारी जानकारी

लेने यहाँ चले आये। तुम हमारे साथ चलो। हम लोग तुम्हें कांचीपुरी पहुँचा देंगे।''

रामानुज ने पूछा—''लेकिन तुम लोग कौन हो, यह तो बताओ।''

व्याध बोला—''हम लोग सिद्धाश्रम के रहने वाले हैं। समस्त जीवन व्याध कार्य में बिताया। अब पारलौकिक कल्याण के लिए तीर्थ दर्शन के लिए निकले हैं। कांची होकर सेतु जायेंगे। अच्छा हुआ तुमसे भेंट हो गई। ज्ञात होता है कि तुम रास्ता भूल गये हो। खैर, डरने की कोई बात नहीं। ईश्वर तुम्हारी रक्षा करेंगे।''

उस समय तक दिन ढल चुका था और रात होने में थोड़ी देर थी। व्याध ने कहा कि अब हम लोग जल्दी-जल्दी चलकर रात होने के पूर्व इस जंगल को पार कर लें। फिर विश्राम करेंगे।

●

पुनर्मिलन

जंगल के बाहर आ जाने पर व्याध ने एक पेड़ के पास की थोड़ी-सी जमीन को समतल करके रामानुज को उसी जगह विश्राम करने को कहा। वहीं पर थोड़ी लकड़ी लाकर आग भी जला दिया। फिर पास ही में एक भू-भाग को साफ करके अपनी पत्नी समेत स्वयं विश्राम करने लगा। थोड़ी देर विश्राम करने के बाद ही व्याध की पत्नी ने कहा कि "मुझे प्यास लगी है। पानी ले आओ।"

व्याध ने कहा—"रात भर शान्त रहो। इस स्थान से थोड़ी दूर पर एक बावली है। सवेरे वहीं पानी पीना।"

प्रात:काल होते ही ये तीनों यात्री चल पड़े। थोड़ी दूर चलने के बाद ही वह बावली आ गई, जिसकी चर्चा रात के समय व्याध ने की थी। रामानुज ने अपना हाथ-मुँह धोया और पानी पिया। थोड़ा जल व्याध की पत्नी के लिए भी लेते आये। लेकिन उससे उसकी प्यास न बुझी। इस प्रकार वे तीन बार पानी ले आये और सम्पूर्ण जल पीने के बाद भी व्याध-पत्नी की प्यास शान्त नहीं हुई। चौथी बार जब पानी लेकर वे लौटे, उस समय न तो वहाँ व्याध था और न उसकी पत्नी ही। रामानुज ने चिन्तातुर दृष्टि से चारों तरफ देखा। लेकिन कहीं कुछ न दिखा। फिर वे बावली की ऊँची मेड़ों पर चढ़ गये। वहीं से कुछ दूरी पर बस्ती के कुछ मकान उन्हें दिख पड़े। मकानों के दिखाई देने से उन्हें परम शान्ति मिली। इससे उन्होंने यह अन्दाज लगा लिया कि रास्ता इधर ही जायेगा।

उसी समय एक व्यक्ति उस रास्ते से आया। उसे देखकर रामानुज को ऐसा लगा, जैसे उन्हें अपने किसी बन्धु-बान्धव से मुलाकात हो गई हो। उन्होंने उस व्यक्ति से पूछा—"भाई, इस बस्ती का नाम तुम मुझे बता सकते हो?"

उस व्यक्ति ने आश्चर्यचकित नेत्रों से रामानुज को देखते हुए कहा—"अरे, तुम अपनी ही बस्ती को नहीं पहचान पाते। यही तो जगत् प्रसिद्ध कांचीपुरी है और यह बावली जिसमें तुमने हाथ मुँह धोया है, इसका नाम शालकूप है। इसका जल ग्रहण करने से भौतिक, शारीरिक और आर्थिक तीनों ताप नष्ट हो

जाते हैं। इसका प्रभाव जानकर बड़ी दूर-दूर से यात्री इसका जल ग्रहण करने आते हैं।''

यह कहकर वह व्यक्ति चला गया। उसके जाते ही रामानुज की जैसे निद्रा भङ्ग हुई हो। उन्हें उस व्याध-दम्पति की याद आई। उन्हें विश्वास हो गया कि वे अन्य कोई नहीं, साक्षात् लक्ष्मीनारायण मेरी रक्षा के लिए अवतरित हुए थे। फिर तो उनके नेत्रों से आनन्दाश्रु बहने लगे और प्रेम से उद्वेलित होकर वे भगवान् का नाम उच्चारण करते हुए कीर्तन करने लगे।

तत्पश्चात् उन्होंने शालकूप की परिक्रमा प्रारम्भ कर दी। परिक्रमा करते समय ईश्वर के विविध गुणों का बखान करते जाते थे। भक्तिभाव से उन्हें रोमांच हो आता था। उधर घर में माता कान्तिमती पुत्र वियोग से बहुत दुखी हो रही थी। पुत्रवधू कुछ काल के लिये अपने मायके चली गई थी। घर में अकेले होने के कारण स्वयं का भोजन बनाने के लिए वे कोई व्यवस्था नहीं करती थीं। मन्दिर से भगवान् का जो प्रसाद प्राप्त हो जाता, उसी से उनकी आत्मा तृप्त रहती थी।

लेकिन आज उनका मन बहुत व्यग्र था। उनके नेत्रों से लगातार आँसू बह रहे थे। पुत्र की याद में वे अत्यन्त कातर हो रही थीं। ऐसे ही क्षण में किसी ने ''माँ-माँ'' की आवाज दी। सहसा उन्हें विश्वास नहीं हुआ। जब रामानुज ने चरण स्पर्श करते हुए प्रणाम किया, तो उनके आनन्द की सीमा न रही। रामानुज को उन्होंने अंक में भरकर आशीर्वादों की झड़ी लगा दी।

आनन्दातिरेक की स्थिति शान्त होने पर वे दौड़ी-दौड़ी रसोई घर में गईं। लड़का थका-माँदा दूर से आया था—उसके लिए भोजन की व्यवस्था करनी थी। लेकिन घर में लकड़ी भी नहीं थी। माँ जी रसोई आदि बनाती ही नहीं थी। इसलिए दासी भी नहीं आती थी। वे लकड़ी की व्यवस्था के लिए चिन्ता कर ही रही थीं कि उसी समय उनकी बहन और पुत्रवधू ने आँगन में प्रवेश किया। आते ही महादेवी बोलीं—''दासी से पता चला कि तुम सदा रोती रहती और खाना भी नहीं खाती हो। इसीलिए मैं भी आ गई और बहू को भी लेती आई।''

उसी समय सामने से जाकर रामानुज ने मौसी के चरण छुए। रामानुज को देखकर महादेवी परम प्रसन्न हुईं। इधर पत्नी ने रामानुज के चरणोदक लिए और पति की सेवा में लग गईं। उसी समय आवश्यक वस्तुओं के साथ

दासी भी आ गई। सबके मिलने से घर के वातावरण में परम उत्साह और आनन्द की स्थिति उत्पन्न हो गई थी। रामानुज के पिता श्री केशवाचार्य के स्वर्गवास के बाद आचार्य कुल में आनन्द का यह वातावरण पहले कभी नहीं आया था। आज घर के जीव-जन्तु सभी परम प्रसन्न थे।

रामानुज के लौट आने की सूचना बात-ही-बात में नगर में प्रचारित हो गई। जब वे निवास से बाहर निकले तो दरवाजे पर कांचीपुरम् के मान्य महात्मा श्री कांचीपूर्ण जी को प्रतीक्षा में बैठे देखकर उनसे आलिंगन के लिए दौड़े। श्री कांचीपूर्ण जी शूद्रवंश के थे और विनम्रता से इसका उल्लेख भी करते रहते थे। लेकिन इसमें भी उनका बड़प्पन ही था। वे उच्चकोटि के भक्त थे। भक्ति-भाव से उनका हृदय परिपूर्ण था। ऐसे भक्त को अपने घर आया देखकर रामानुज बहुत ही प्रसन्न हुए। आदर-सत्कार और विचारों का आदान-प्रदान होते-होते भोजन तैयार हो गया। रामानुज ने आग्रहपूर्वक श्री कांचीपूर्ण से प्रसाद ग्रहण करने का निवेदन किया। ऐसा सुयोग तो कभी-कभी ही सुलभ होता है। दोनों महात्माओं ने भोजन किया और फिर दर्शन देने का आश्वासन देकर महात्मा काँचीपूर्ण जी विदा हुए।

●

साधु संगम

रामानुज जब भोजन और विश्राम करके उठे तब उनकी माँ ने उनसे पूछा कि "बेटा, गंगा स्नान करके लोग तो तीन-चार महीनों में आते हैं, तुम तो बहुत ही जल्दी लौट आये। क्या तुम बीच रास्ते से ही लौट आये? गोविन्द कहाँ रह गया?' आदि-आदि अनेक प्रश्न कान्तिमती एवं महादेवी ने किये। रामानुज तो सरल और सीधे स्वभाव के महात्मा थे। बात बनाने की लेशमात्र भी कला वे नहीं जानते थे। अतः यादव प्रकाश की पैशाचिक मनोवृत्ति की पूरी बात उन्होंने बता दी। उनकी बात सुनकर माता का हृदय धक से हो गया। पुत्र के सकुशल लौट आने पर वे तरह-तरह से भगवान् के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करने लगीं।

सबके साथ रहने पर भी गोविन्द के बिना रामानुज का मन नहीं लगता था। वे अब चुपचाप घर में रहते और प्राचीन ग्रंथों का अध्ययन करते थे। लगभग तीन महीने बाद यादव प्रकाश अपने शिष्यों समेत वापस आ गये। केवल गोविन्द नहीं आया था। पूछने पर ज्ञात हुआ कि रामानुज का साथ छूट जाने पर सभी लोग काशी की ओर जाने लगे। काशी में एक पखवारे तक रहे। वहीं एक दिन गंगा में स्नान करते समय एक शिवलिंग गोविन्द के हाथ लग गया। उसे शिव के प्रसन्न होने का सूचक जानकर गुरु की आज्ञा से गोविन्द शिव की आराधना करने लगा। कालहस्ति ग्राम तक तो गोविन्द उनके साथ वापस आया। फिर वहाँ एक एकान्त स्थान देखकर अपने गुरु और साथियों से उसने यों कहा—"मैं अपने जीवन का शेष भाग यहीं शिव की सेवा में बिताऊँगा। यह स्थान अत्यन्त मनोहर है। अब यहीं रहकर मैं अपने इष्टदेव की उपासना और पूजा करूँगा। यह बात आप लोग मेरी माता और मौसी को बता दीजिएगा।'

गोविन्द की बात सुनकर और उसका अभिप्राय जानकर यादव प्रकाश बहुत प्रसन्न हुए थे। इससे उनकी इच्छा ही पूरी हुई थी। उन्हें यह डर था कि यदि गोविन्द काँचीपुरी गया और रामानुज के मार डालने के षड़यंत्र का भण्डाफोड़ कर दिया, तो उनका जीना कठिन हो जायेगा। इसलिए गोविन्द को वह कुछ समय तक काँचीपुरी से दूर ही रखना चाहते थे। इसी उद्देश्य से काशी में गंगा

स्नान के समय उन्होंने चतुराईपूर्वक गोविन्द से शिवजी की मूर्ति का स्पर्श करा-कर शिवजी के प्रसन्न होने की बात कह दी थी।

रामानुज की ही तरह गोविन्द जी भी सरल स्वभाव के भक्त थे। कालहस्ति के पास मङ्गल ग्राम में थोड़ी-सी जमीन लेकर अपनी कुटिया बनाकर भक्तिभाव पूर्वक वहीं रहने लगे। यादव प्रकाश अपने शिष्यों समेत काँचीपुरी आ गये। रामानुज का पहले ही आना जानकर वे बहुत सशंकित हो उठे। लेकिन रामानुज के परिवार के सदस्यों के अतिरिक्त किसी अन्य व्यक्ति को उनके षड़यंत्र की सूचना नहीं थी। अतः कोई नई घटना नहीं घटी। हाँ, उनके आने पर गोविन्द को आया न देखकर उनकी माँ जब गोविन्द के बारे में उनसे पूछने गई, तो उन्होंने विधिवत् सच्ची सूचना दे दी।

पुत्र में भगवत् भक्ति के प्रति इतनी श्रद्धा जानकर महादेवी को बहुत प्रसन्नता हुई। वे अन्य माताओं की तरह भीरु नहीं थीं। पुत्र को देखने की इच्छा से वे मङ्गल ग्राम गईं और गोविन्द की ईश्वर भक्ति से वे गद्गद् हो गईं।

इधर यादव प्रकाश रामानुज के सामने होने में भय खाते थे। भरसक कोशिश करते थे कि कहीं रामानुज न मिलें। लेकिन एक ही स्थान में रहते यह सम्भव नहीं था। दैवयोग से एक दिन रामानुज और यादव प्रकाश का आमना-सामना हो गया। रामानुज ने बड़ी श्रद्धा और लगन से यादव प्रकाश को प्रणाम किया। उनके इस श्रद्धापूर्ण व्यवहार से मिलने के कारण यादव प्रकाश को यह विश्वास हो गया कि उनके षड़यन्त्र का कुछ पता रामानुज को नहीं मिला है। रामानुज के चरित्र की उदारता और उनके निर्मल स्वभाव को देखकर अपने राक्षसोचित् व्यवहार से यादव प्रकाश को बड़ी ग्लानि हुई। शिष्टाचार के कुछ प्रश्न और उत्तर के बाद यादव प्रकाश ने रामानुज को पाठ-शाला में पुनः पढ़ने आने का आग्रहपूर्वक निमन्त्रण देकर अपने सिर से कलंक का जैसे मन का बोझ हलका कर लिया हो। रामानुज उनके आग्रह की उपेक्षा न करके उसी दिन उनकी पाठशाला में जाने लगे।

यादव प्रकाश बहुधंधी व्यक्ति थे। संस्कृत अध्यापन और शास्त्रार्थ के अतिरिक्त भूत-प्रेत ग्रस्त मनुष्यों को मन्त्र बल से आरोग्य कर दिया करते थे। संयोगवश उनकी तीर्थयात्रा से लौटने के कुछ दिन बाद काँचीपुरी के राजा की कन्या प्रेत कष्ट से पीड़ित हो गई। बहुत मन्त्र और उपचार के बाद भी जब कोई लाभ नहीं हुआ, तो राजा ने यादव प्रकाश को बुला भेजा। उन्हें देखते ही राजकुमारी का भूत बोल उठा—"तुम व्यर्थ में क्यों आये हो। तुमसे कुछ होने वाला नहीं, तुम लौट जाओ।"

लेकिन यादव प्रकाश प्रेत की बात पर ध्यान न देकर एक-डेढ़ घंटे तक मंत्रोच्चार करते रहे। तब राजकुमारी के प्रेत ने बड़े जोर की हँसी हँसते हुए कहा—"क्यों कष्ट उठाते हो। तुम हमसे भी अधम हो। तुम मेरा कुछ भी नहीं बिगाड़ सकते। तुम्हारे हटाये मैं हटने से रहा। यदि तुम सचमुच इस राजकुमारी की रक्षा करना ही चाहते हो, तो तुम्हारे शिष्यों में जो सबसे कम अवस्था के, अजानबाहु, विस्तृत ललाट वाले कोमलांग श्रीमान् रामानुज हैं, उन्हें बुलाओ। जिस प्रकार प्रकाश को देखते ही अन्धकार का लोप हो जाता है, उसी प्रकार उन महात्मा के दर्शन मात्र से मैं भाग जाऊँगा।"

रामानुज को वहाँ बुलाया गया। उन्हें देखते ही राजकुमारी के प्रेत ने कहा—"मेरे सिर पर आप अपना चरण रख दें। मैं इस राजकुमारी को छोड़कर चला जाऊँगा।" रामानुज ने वैसा ही किया और कहा कि "साथ ही इसका प्रमाण भी देते जाओ कि तुमने राजकुरारी को छोड़ दिया।"

प्रेत ने कहा—"राजकुमारी को छोड़ता हूँ, इसके प्रमाण में सामने की डाल को तोड़ता हूँ।" और सचमुच पीपल की डाल बड़े जोर से चरचरा कर धरती पर आ गिरी।

इस घटना की खबर बिजली की तरह सम्पूर्ण बस्ती में फैल गई। राजा ने उनके प्रति विशेष कृतज्ञता ज्ञापित की। कांचीपुरी की जनता हजारों की संख्या में उनके दर्शनों के लिए उमड़-उमड़ कर आने लगी। उनके यश का समाचार सूर्य के प्रकाश की भाँति चारों तरफ आलोकित होने लगा।

यादव प्रकाश और रामानुज में अधिक समय तक नहीं बना। और उनमें आपस में बने भी तो कैसे? क्या कभी पाप-पुण्य का मिलाप हुआ है? क्या प्रकाश और अधकार का संगम सम्भव है? क्या ज्ञान और अविवेक साथ-साथ चल सकते हैं? यदि ये सब सम्भव नहीं तो इसी प्रकार रामानुज और यादव प्रकाश का भी सम्बन्ध सम्भव नहीं था।

एक दिन शास्त्रों की व्याख्या करते समय यादव प्रकाश ने कुछ असंगत बातें कह दीं। रामानुज ने उन्हें रोक दिया। इस पर वे बहुत असन्तुष्ट हो गये और रामानुज को अपनी पाठशाला में आने को मनाही कर दी।

उस दिन से रामानुज घर पर ही शान्त चित्त से शास्त्रों का अध्ययन करते और भगवत् आराधना में अपना समय बिताते। एक दिन अचानक महात्मा कांचीपूर्ण जी उनके यहाँ पधारे। उन्हें आया देखकर रामानुज का हृदय गद्गद हो उठा और उनके नेत्रों से प्रेमाश्रु की धारा बहने लगी। रामानुज ने कहा—"महाप्रभु! आप मेरे पिता तुल्य हैं, आपके सामने मैं अबोध बालक जैसा हूँ।

आप मुझे अपनी शरण में लें और मुझे अज्ञानी समझकर उपदेश करने का कष्ट करें।"

महात्मा कांचीपूर्ण ने कहा—"बेटा ! तुम ब्राह्मण और पंडित हो। मैं शूद्र और अज्ञानी हूँ। मुझसे तुम्हें ऐसी बातें नहीं करनी चाहिए। नीच जाति में पैदा होने के कारण मैं तो वेद-शास्त्र का कोई ज्ञान प्राप्त न कर सका। केवल श्री वरदराज जी की कृपा के बल पर जी रहा हूँ।"

रामानुज उनका चरण स्पर्श करते हुए यों कहने लगे—"महात्मन् ! अब मुझे तिरस्कृत न करें। मैं शरणागत हूँ। भले ही आपने शूद्र वंश में जन्म लिया हो, किन्तु अपने सत्कर्मों के द्वारा आप ब्राह्मण और उच्च वंशों में जन्म लेने वाले लोगों से बहुत ऊपर उठ चुके हैं। कृपया मुझे भी सद्‌गति दें।"

श्री कांचीपूर्ण और रामानुज का यह संगम अपूर्व और दर्शनीय था। जैसे वहाँ भगवान् और भक्ति का संगम हो रहा हो। श्री कांचीपूर्ण रामानुज को छाती से लगाये खड़े थे और इस शोभापूर्ण दृश्य को देखने के लिए भक्तों की भीड़ लग रही थी।

श्री रामानुज की असीम भक्ति-भावना से प्रसन्न होकर श्री कांचीपूर्ण ने कहा—"बेटा ! श्री वरदराज जी के प्रति तुम्हारा अगाध प्रेम अत्यन्त मंगलकारी है। शालकूप से प्रत्येक दिन एक घड़ा जल श्री वरदराज जी की सेवा के लिए लाया करो। बहुत शीघ्र ही तुम्हारी मनोकामना पूरी होगी।"

●

श्री आलवन्दार

हम प्राचीन काल से यह सुनते आये हैं कि जिस पर भगवान् की कृपा होती है, उसमें भगवद्भक्ति के अंकुर उगते हैं। श्री रामानुज के जन्म के पूर्व श्री रंगनाथ क्षेत्र में श्री यमुनाचार्य जी नाम के एक महात्मा संन्यासी वेष में रहते थे। इन्हीं महात्मन् को आलवन्दार भी कहा जाता था। स्वेच्छा से राजसिंहासन का त्याग करके इन महापुरुष ने स्वामी राममिश्र का शिष्यत्व ग्रहण किया था। स्वामी जी के वैकुण्ठवासी होने पर ये ही आलवन्दार समस्त वैष्णव मण्डली के नेता बने। वे बहुत बड़े विद्वान् और कवि-हृदय थे। उनके द्वारा रचे गये स्तोत्रों से भगवान् की पूजा और आरती उसी प्रकार की जाती थी, जैसे आजकल गोस्वामी तुलसीदास द्वारा रचित रामचरित मानस के दोहे और चौपाइयों द्वारा की जाती है। उनका वैराग्य, त्याग, पांडित्य और कर्तव्य परायणता अनुकरणीय थी। उनकी ख्याति सम्पूर्ण दक्षिण प्रदेश में फैली थी और दूर-दूर से भक्त लोग उनके दर्शन के लिए आते थे। इन्हीं यमुनाचार्य अथवा आलवन्दार के प्रधान शिष्य पेरियातिरूमलैनम्बि अथवा श्री शैलपूर्ण जी थे और यही श्री शैलपूर्ण जी रामानुज और गोविन्द के मामा लगते थे।

श्री आलवन्दार ने अपने जीवन में बहुत काम किये। दक्षिण भारत में उनका शिष्य सम्प्रदाय शहर और ग्राम हर स्थान में फैला था। उनकी भक्ति और पांडित्य की चर्चा घर-घर में होती थी। जब शरीर बुढ़ापे के कारण थकने लगा, तब प्राय: वे बीमार पड़ जाते थे। ऐसे अवसरों पर उनके भक्तों एवं शिष्यों में एक अजीब उदासी व्यापने लगती थी।

वे एक बार बहुत बीमार पड़े। बचने की आशा जाती रही। उनके कुछ निकटस्थ शिष्य इतने निराश हुए कि उन्होंने आत्महत्या करने की ठान ली। दैवयोग से श्री आलवन्दार को इसका ज्ञान हो गया। उन्होंने अपने शिष्यों को बुलाकर कहा—"आत्महत्या महापाप है। ऐसे संकल्प को शीघ्र त्याग दो। तुम लोगों को मेरा अन्तिम उपदेश यही है कि भगवान् के चरणारविन्द में कुसुमांजलि अर्पण करना, गुरु द्वारा निदेशित मार्ग से चलना और साधुजनों की सेवा द्वारा अहंकार के नाश की चेष्टा निरन्तर करते रहना।"

श्री रंगनाथ के वार्षिकोत्सव में उन्होंने भाग लिया। शिष्यों समेत उन्होंने

भगवान् की आरती पूजा की। वे उस समय रोग से मुक्त हो गये। लेकिन बुढ़ापे का जर्जर शरीर अधिक समय तक स्वस्थ नहीं रह सका। ऐसे बड़े और त्यागी सन्त की बीमारी का समाचार सुनकर दूर-दूर से शिष्य उनके अन्तिम दर्शनों के लिए आने लगे। इन्हीं दिनों काँची से दो ब्राह्मण आये थे। इन्हें देखकर श्री आलवन्दार बहुत प्रसन्न हुए। उन लोगों से उन्होंने श्री रामानुज का समाचार पूछा। उन ब्राह्मणों ने बताया कि यादव प्रकाश ने अपनी पाठशाला आने से रामानुज को मना कर दिया है। अब वे घर पर ही शास्त्रों का अध्ययन और ईश्वरोपासना करते हैं।

उन ब्राह्मणों की बात सुनकर श्री आलवन्दार को बहुत सन्तोष मिला। श्री रामानुज से मिलने की उनकी प्रबल इच्छा होने लगी। उन्होंने अपने एक शिष्य को बुलाकर कहा—"श्री रामानुज ईश्वर स्वरूप हैं। यह शरीर त्याग करने के पूर्व मैं उनसे मिलना चाहता हूँ। तुम उन्हें काँचीपुरम् से यहाँ बुला लाओ।"

श्री आलवन्दार का सन्देश पाकर श्री रामानुज बहुत प्रसन्न हुए। वे तत्काल श्री रंगक्षेत्र में जाने के लिए तैयार हो गये। जब वे चलने को तैयार हुए तो श्री यमुनाचार्य के यहाँ से आये सन्देशवाहक ने कहा—"महात्मन्! वहाँ से लौटने में न मालूम कितने दिन लगे। अतः कुछ समय के लिए गृहस्थी की व्यवस्था कर दीजिए।"

यह सुनकर श्री रामानुज बहुत हँसे। उन्होंने कहा—"मैं व्यवस्था करने वाला कौन हूँ? फिर पहले भगवान् और उनके भक्तों की आज्ञा का पालन करना है, तब घर गृहस्थी की व्यवस्था। श्री यमुनाचार्य रोगग्रस्त हैं, हमें वहाँ शीघ्र पहुँचना चाहिए। आप थोड़ी देर रुकें, मैं इस घड़े का जल मन्दिर में रख आऊँ। यह पूजन के लिए है। तब चलता हूँ।"

श्री आलवन्दार की बीमारी की सूचना से रामानुज बहुत चिन्तित थे। इसीलिए मन्दिर से लौटकर बहुत जल्दी-जल्दी वे सन्देशवाहक श्री महापूर्ण जी के साथ चल पड़े। कावेरी नदी को पार करके रंगनाथ जी के मन्दिर की ओर जाने की इच्छा से रामानुज और श्री महापूर्ण जी ज्योंही आगे बढ़े, तो देखा कि एक अपार जन समूह उधर से कावेरी तट की ओर बढ़ा चला आ रहा था। श्री रामानुज को समझने में देर नहीं लगी कि उतनी बड़ी भीड़ नदी की ओर क्यों बढ़ी चली आ रही थी। लेकिन वे अपने मन की शङ्का व्यक्त करना नहीं चाहते थे। श्री महापूर्ण जी ने पास से जाते एक व्यक्ति से उस बड़ी भीड़ का कारण पूछ दिया। उस व्यक्ति ने बहुत ही दुखित हृदय से बताया कि

श्री यमुनाचार्य महाराज को बैकुण्ठ धाम की प्राप्ति हो गई। अतः यह सम्पूर्ण जन समुदाय उनके पार्थिव शरीर के अन्तिम संस्कार के लिए कावेरी तट आ रहा है।

इतना सुनते श्री महापूर्ण जी बिलख-बिलख कर रोने लगे। श्री रामानुज तो धम से गिर पड़े और चेतनाशून्य हो गए। श्री महापूर्ण जी उन्हें सचेतन अवस्था में लाये और अपने को संयत करके निवेदन किया—"महाराज ! मैं आपको क्या समझाऊँ। इस शरीर की तो यही गति है। इसका तो अन्त होना ही है। लेकिन हमारे परमपूज्यपाद गुरु का अन्त नहीं हो सकता। वे सदा-सर्वदा हमारे बीच रहेंगे और हमारा पथ आलोकित करेंगे। शरीर त्याग के बाद तो वे लोग मर जाते हैं, जो अपने लिए जीते हैं—स्वार्थी हैं, लेकिन जो त्यागी, परोपकारी और भगवान् के प्रति समर्पित होते हैं, वे कभी नहीं मरते।"

श्री महापूर्ण जी श्री आलवन्दार के प्रधान शिष्यों में से थे और अपना सम्पूण समय गुरु की सेवा में बिताते थे। गुरु की आज्ञा से वे रामानुज को बुलाने गये थे और इसी बीच गुरु ने बैकुण्ठ के लिए महाप्रयाण कर लिया। इसका महापूर्ण जी को बहुत दुःख था। लेकिन रामानुज की दशा देखकर वे रो भी न पाये।

जब श्री आलवन्दार के पार्थिव शरीर का अन्तिम संस्कार होने को हुआ, तो महापूर्ण और श्री रामानुज दोनों अपनी श्रद्धांजलि और अंतिम प्रणाम देने के लिए उनके चरणों के पास आये। उस समय उनके हाथ की तीन अँगुलियाँ मुड़ी हुई थीं। रामानुज ने महापूर्ण जी से पूछा—"क्या पूज्यपाद की ये तीनों अँगुलियाँ पहले भी मुड़ी थीं ?"

श्री महापूर्ण जी के नकारात्मक उत्तर से रामानुज को बहुत आश्चर्य हुआ। वे मन-ही मन इसका कारण जानने के लिए प्रयत्न करने लगे। भगवत् प्रेरणा और कृपा से जब उन्हें कारण ज्ञात हो गया, तत्पश्चात् उन्होंने गम्भोर स्वर में तीन श्लोक कहा जिनका भावार्थ यों था—

१—मैं विष्णु मत में दृढ़तापूर्वक स्थिर रहकर अज्ञान से मोहित मनुष्यों को सद्मार्ग पर चलने के लिए प्रेरित करूँगा।

२—मैं लोक कल्याण के लिए समस्त तत्वों का संग्रह करके श्रीभाष्य की रचना करूँगा।

३—महर्षि पाराशर द्वारा लोक रक्षा एवं कल्याण के लिए प्रतिपादित विष्णु पुराण की रचना के लिए कृतज्ञता प्रदर्शन स्वरूप किसी विज्ञ वैष्णव को उनके नाम पर प्रख्यात करूँगा।

एक-एक श्लोक की समाप्ति के बाद उनकी एक-एक अँगुली सीधी होती गईं। तीनों श्लोकों के उच्चारण के बाद तीनों अँगुलियाँ सीधी हो गईं। यह अद्भुत लीला देखकर समस्त जन समुदाय और शिष्यगण चकित रह गये। रामानुज की ईश्वरीय शक्ति का ज्ञान सब को हो गया। अपना अन्त समीप जानकर श्री आलवन्दार द्वारा श्री रामानुज को बुलाने का गूढ़ रहस्य भी उनके शिष्यों की समझ में आ गया।

श्री आलवन्दार के बैकुण्ठवासी होने के कारण रामानुज को बहुत दुःख हुआ। वे अब गम्भीर रहने लगे। श्री यमुनाचार्य को समाधि देने के पूर्व ही वे काँचीपुरी के लिए चल पड़े। घर पहुँच कर अपना अधिक समय एकान्त में बिताते और भगवत् भजन करते रहते। श्री काँचीपूर्ण के अलावा किसी अन्य व्यक्ति का सहवास उन्हें अब रुचिकर प्रतीत नहीं होता था।

श्री रामानुज का मन एकदम विचलित हो उठा था। संसार का नश्वर गति उन्हें दीख रही थी। महिमामयी माँ कान्तिमती, जो उन्हें प्राणों से बढ़कर प्यारी थीं और जो स्वयं भी उन्हें अपने प्राण से अधिक प्यार करती थीं, अभी कुछ ही समय पहले कालकवलित हो चुकी थीं। अभी उस वज्रपात से अपने को वे संभाल भी नहीं पाये थे, कि यह दूसरा वज्राघात हो गया। जैसे वे दुःख के सागर में गिर पड़े हों। उनकी मनोहर हँसी और मुख पर विराजती स्वाभाविक प्रसन्नता का पता नहीं कहाँ लोप हो गया।

संशय में छुटकारा

श्री रामानुज की पत्नी तंजमाम्बा बहुत सुन्दरी थीं और बनाव-शृंगार में बहुत विश्वास करती थीं। गृह कार्य और पति सेवा में भी मन लगाती थीं, किन्तु अपने शरीर को अत्यधिक महत्व देने के कारण दूसरे कार्यों में त्रुटि रह जाना स्वाभाविक था। इधर अपनी ममतामयी माँ के परलोकवासी होने से रामानुज का मन बहुत दुःखी रहता और वे किसी काम में रुचि नहीं लेते थे। एकान्त में भगवत् भजन करते और काँचीपूर्ण के पधारने पर परम प्रसन्न होकर उनकी आवभगत करते थे। उनकी सम्पूर्ण श्रद्धा श्री काँचीपूर्ण में केन्द्रित हो गई थी। अपनी पत्नी के प्रति वे एकदम उदासीन हो गये थे। तंजमाम्बा भीतर-भीतर ही क्रोधाग्नि से तड़पती रहती, किन्तु यत्न करके उसे प्रकट नहीं होने देती थीं।

श्री काँचीपूर्ण से यह सब कुछ छिपा नहीं था। रामानुज को बहुत उदास देखकर एक दिन काँचीपूर्ण ने उनसे कहा—"बेटा, तुमने श्री यमुनाचार्य के समाधि लेने के पूर्व जो वचन दिया था, उसे पूरा करने का यत्न करो। मन को उदास मत करो। भगवान् वरदराज के चरणों में अपने को पूर्णरूप से अर्पित कर दो। श्री शालकूप से एक घड़ा जल लाकर वरदराज की नित्य सेवा करने का अपना व्रत नियमित चलाओ। इससे तुम्हारे मन की अशान्ति दूर हो जायेगी और तुम्हारी मनोकामना पूर्ण होगी।"

श्री काँचीपूर्ण की बातें सुनकर रामानुज की आँखें भर आईं और उनका गला रुँध गया। उन्होंने भरे स्वर में कहा—"महात्मन्! आप मुझे शरण में लें। मुझे अपना शिष्य बनाकर मेरा क्लेश दूर कर दें।"

श्री काँचीपूर्ण ने उन्हें आश्वस्त करते हुये कहा—"आपकी दृष्टि सूक्ष्म और पारदर्शी है। वेद और शास्त्रों का आपको विधिवत् ज्ञान है। मैं चतुर्थ वर्ग का हूँ। आप जैसी कोई चीज मुझ में नहीं। आप धैर्य धारण करें। श्री वरदराज जी आपके लिए शीघ्र ही गुरु भेजेंगे।"

श्री काँचीपूर्ण जी की बातों से रामानुज को बहुत दुःख हुआ। वे समझ गये कि उनको अपना शिष्य होने का अधिकारी नहीं समझते। इसीलिए बार-बार अपने को शूद्र और चतुर्थ वर्ग के होने की बात कहकर उनके निवेदन को टाल

देते हैं। जो व्यक्ति सदा श्री वरदराज जी के साथ बिहार करे, भक्ति रूप हो, भक्तों के प्रति इतना उदार हो तथा जगत् कल्याण के अतिरिक्त कोई अन्य बात उसके हृदय में कभी प्रवेश न करती हो, उस व्यक्ति से बड़ा ब्राह्मण और विज्ञ दूसरा कौन है ?

दूसरे दिन श्री रामानुज श्री कांचीपूर्ण के यहाँ गये और उन्होंने उस महात्मा से कहा—"कल दोपहर में आप मेरे यहाँ प्रसाद ग्रहण करने का कष्ट करें।" यह निमन्त्रण सहर्ष स्वीकार करते हुए उन्होंने कहा—"हमारा कितना बड़ा सौभाग्य उदय हुआ है कि कल आपके समान परम भक्त का अन्न ग्रहण करने को मिलेगा।"

घर लौटकर श्री रामानुज ने अपनी पत्नी को बताया कि कल श्री कांचीपूर्ण जी महाराज दोपहर का भोजन यहीं करेंगे। अतः बहुत पवित्रतापूर्वक स्वादिष्ट भोजन बनाना चाहिए। सबेरे उनकी पत्नी ने स्नानादि से निवृत्त होकर बड़े प्रेम से तरह-तरह के व्यंजन तैयार किये। भोजन तैयार होने के बाद जब श्री कांचीपूर्ण नहीं पहुँचे, तो रामानुज जी उन्हें लिवा लाने के लिए उनके आश्रम पर गये। रामानुज का आता जानकर श्री कांचीपूर्ण महाराज एक दूसरे मार्ग से स्वतः उनके निवास पर पहुँचकर प्रसाद लाने के लिये उनकी पत्नी से कहा।

तंजमाम्बा ने निवेदन किया कि "महात्मन् ! मेरे स्वामी आपको लिवा लाने के लिए ही गये हैं। वे आते ही होंगे। कृपया आप उनके आने की प्रतीक्षा करें।"

लेकिन श्री कांचीपूर्ण किसी तरह प्रतीक्षा के लिए तैयार नहीं हुये। अतः तंजमाम्बा ने उन्हें भोजन परोस कर दे दिया और वे भोजन करके चले गये। जाने के पहले अपना पत्तल, दोने आदि फेंककर उस स्थान को पानी से धो दिया।

श्री कांचीपूर्ण के जाने के बाद घर में बचा तैयार खाद्य पदार्थ तंजमाम्बा ने शूद्रों में बाँट दिया और चौका बर्तन साफ करके पुनः स्नान करके पति के लिए भोजन बनाने लगी। उसी समय रामानुज आ गये। पत्नी को भोजन की पुनः व्यवस्था करते देख उन्हें बहुत आश्चर्य हुआ। उन्होंने इसका कारण पूछा। जब पत्नी द्वारा उन्हें यह ज्ञात हुआ कि महात्मा कांचीपूर्ण प्रसाद पाकर चले गये और उन्होंने अपने भोजन के स्थान को स्वयं धोया तथा पत्तल-दोने फेंक और अवशिष्ट भोजन शूद्रों को दे दिया गया, तो उन्हें बड़ी पीड़ा हुई। उन्होंने अपनी पत्नी को धिक्कारते हुए कहा—"मूर्खे, यह तुमने क्या किया ?

भक्तराज के साथ तुमने शूद्र का सा व्यवहार किया ? मैं कितना अभागा हूँ जो उनका प्रसाद मुझे न मिल सका ।" ऐसा कहकर वे घर के बाहर वृक्ष के नीचे जाकर खिन्न होकर बैठ गये ।

उधर श्री काँचीपूर्ण श्री वरदराज के मन्दिर में पहुँच कर उनकी प्रतिमा को पंखा झलते-झलते कहने लगे—"भगवन् ! यह आपकी कैसी लीला है ? मैं तो आपका और आपके भक्तों की सेवा करके अपना जीवन बिताना चाहता हूँ और आप मुझे बड़ा पद देते जा रहे हैं । यह भार मैं कैसे सहन कर सकूंगा । श्री रामानुज, जो साक्षात् शेषावतार हैं, मेरा उच्छिष्ट भोजन पाने के लिए लालायित हो रहे हैं । इसीलिए उन्होंने आज मुझे निमंत्रण दिया था । मैं तो आपका और आपके भक्तों का सेवक ही रहना चाहता हूँ—पूज्य बनना नहीं चाहता । यदि आप आज्ञा दें तो मैं तिरुपति में जाकर आपकी बालाजी की मूर्ति की सेवा करूँ ।"

उन्हें आज्ञा मिल गयी और वे तिरुपति जाकर बालाजी की सेवा में लीन हो गये । लेकिन कुछ ही महीनों बाद श्री वरदराज जी की आज्ञा से वे पुनः काँचीपुरी वापस आ गये । उनके लौट आने से रामानुज को वर्णनातीत प्रसन्नता हुई । उनके वापस आने की सूचना मिलते ही वे उनके दर्शन हेतु श्री वरदराज जी के मन्दिर में गये । लम्बे समय से बिछुड़े इन दो प्रेमियों का मिलन राम-भरत मिलन की तरह अपूर्व शोभनीय था । दोनों तरफ से लगातार प्रेमाश्रु प्रवाहित हो रहे थे । मन शान्त होने पर श्री रामानुज ने कहा कि "महात्मन् ! मेरे मन में कुछ सन्देह उत्पन्न हो गये हैं, जिनके कारण मैं बहुत मानसिक क्लेश में पड़ा हूँ । कृपया श्री वरदराज जी भगवान् से संशय का उत्तर दिलवाकर मेरा कष्ट निवारण कीजिए ।"

तत्काल तो श्री कांचीपूर्ण जी चुप रह गये और रामानुज अपने घर को लौट आये । दूसरे दिन कांचीपूर्ण जी ने रामानुज से कहा कि मैंने भगवान् से आपके सम्बन्ध में निवेदन किया था । उनका जो आदेश हुआ, उसका आशय यों है—

(१) जगत् और प्रकृति दोनों का कारण परब्रह्म है ।

(२) जीव और ईश्वर का भेद स्वतः सिद्ध है ।

(३) मोक्ष प्राप्ति की लालसा करने वाले व्यक्तियों को भगवान् के चरण-कमलों में आत्मसमर्पण करना ही मुक्ति प्राप्ति है ।

(४) भगवान् के भक्त यदि अन्त समय में उनका स्मरण न भी करें, तो भी उन्हें मुक्ति मिलती है ।

(५) देह त्याग करने पर भगवान् के भक्तों को परमपद प्राप्त होता है ।

(६) रामानुज को सर्वगुण सम्पन्न महात्मा श्री महापूर्ण का आश्रय ग्रहण करना चाहिए ।

श्री कांचीपूर्ण की ये बातें सुनकर श्री रामानुज एकदम भावविह्वल हो उठे । उनके आनन्द की सीमा न रही । अपनी शंका की केवल चर्चा भर उन्होंने की थी, कौन-कौन और कैसी शंकायें थीं, उन्होंने कांचीपूर्ण को नहीं बताया था । मन की गोपनीय शंकाओं का सविस्तार निर्देश सुनकर उन्हें बड़ा सन्तोष मिला । बहुत मना करने पर भी उन्होंने श्री कांचीपूर्ण को साष्टांग प्रणाम किया और वहीं से सीधे श्री रंगजी के मन्दिर में श्री महापूर्ण जी से दीक्षित होने के लिए चल पड़े ।

श्री आलवन्दार यमुनाचार्य को स्वर्गवासी हुए एक वर्ष बीत चुका था । उनके परलोकवासी होने के बाद मठ का अध्यक्ष उन्हीं के एक शिष्य तिरुवरांग को बनाया गया था । वे विचित्र प्रकार के महात्मा थे । उनमें परम उच्चकोटि का दास्य भाव था । वे किसी को आज्ञा देने के बदले स्वयं किसी कार्य को करना शुरू कर देते थे । मठ का काम विधिवत चल रहा था, किन्तु श्री आलवन्दार के समय की बात नहीं आ रही थी । इसलिए तिरुवरांग को सन्तोष नहीं था । सोच-विचार कर उन्होंने अपने सभी सहयोगियों एवं भक्तों को बुलाया और वैकुण्ठवासी होने के पूर्व श्री यमुनाचार्य जी ने जब श्री महापूर्ण को श्री रामानुज महाराज को बुलाने के लिए भेजा था, उसका स्मरण कराया । उन्होंने कहा कि श्री आलवन्दार की ईश्वरीय दृष्टि थी, वे जानते थे कि रामानुज मनुष्य के रूप में शेषावतार हैं और किसी विशेष प्रयोजनवश उनका जन्म हुआ है । इसीलिए वे अन्त समय में उनका दर्शन कर कुछ कार्य सौंपना चाहते थे । उस समय यह सम्भव नहीं हो सका था । अब हमारी इच्छा है कि उन्हें आग्रह पूर्वक यहाँ आने के लिए प्रेरित किया जाय और इस कार्य के लिए श्री महापूर्ण कांचीपुरी जायँ ।

सभी विद्वानों, पंडितों एवं भक्तों ने इस सुझाव पर प्रसन्नता व्यक्त करते हुए इसका अनुमोदन किया ।

•

यतिराज

दैवयोग से जिस समय श्री रामानुज श्री महापूर्ण से दीक्षित होने के लिए श्रीरंग क्षेत्र जा रहे थे, उसी समय रामानुज को श्री रंगजी के मन्दिर में स्थायी रूप से बुलाने के लिए किसी को भेजने की योजना बन रही थी। श्री रंगजी के मन्दिर में दो प्रकार के भक्त निवास करते थे—संन्यासी और गृहस्थ। गृहस्थ भक्तों की पत्नियाँ भी थीं, जो मन्दिर के बाहर निवास करती थीं और समय-समय पर अपने पतियो से मिलती रहती थीं। श्री महापूर्ण गृहस्थ महात्मा थे। उनकी पत्नी भी श्रीरंग क्षेत्र में निवास करती थीं। श्री रामानुज को लिवा लाने के लिए उनसे उपयुक्त कोई अन्य दिखाई न देता था। अतः तिरुवरांग ने महापूर्ण से कहा—"शेषावतार श्री रामानुज को यहाँ लाने के लिए तुमसे अधिक योग्य दूसरा कोई व्यक्ति दिखाई नहीं देता। अतः इस बार भी तुम्हें ही कांचीपुरम् जाना होगा। हाँ, तुम जल्दी मत करना और उनसे यह मत कहना कि हम लोगों ने उन्हें बुलाया है। केवल उनके साथ रहकर उन्हें श्रीरंग जी की महिमा की याद दिलाते रहना। सम्भव है, इसमें तुम्हें समय लग जाय। इसलिए अपनी पत्नी को भी साथ लेते जाओ।"

इस व्यवस्था से श्री महापूर्ण जी बहुत प्रसन्न हुए। श्री रामानुज के साथ सहवास की बात से उनका हृदय आनन्दित हो उठा। जल्दी-जल्दी तैयारी करके अपनी पत्नी सहित वे कांचीपुरी के लिए चल पड़े। दो दिन चलने के बाद मदुरा के विष्णु मन्दिर के सामने तालाब के किनारे श्री महापूर्ण ने विश्राम करने का निश्चय किया। ऐसा विचार कर अभी वे पूजा-प्रसाद की व्यवस्था की बात सोच ही रहे थे कि उन्होंने अपने सामने श्री रामानुज को खड़े देखा। मध्यमार्ग में ही रामानुज को पाकर श्री महापूर्ण जी के आनन्द की सीमा नहीं रही। उन्होंने भावविह्वल होकर उन्हे हृदय से लगा लिया और कहने लगे—"इस स्थान पर आपसे मिलने की आशा नहीं थी। हमारे बड़े भाग्य हैं, जो यहाँ आपके दर्शन हो गये। हम तो आपके दर्शन हेतु ही कांचीपुरी जा रहे हैं।"

श्री रामानुज ने विनम्रतापूर्वक निवेदन करते हुए कहा—"भगवन्! यह मेरे भाग्योदय की शुभ घड़ी है। आपका दर्शन इसकी पूर्व सूचना है। मैं

श्रीरंगम् आपके दर्शन के लिए जा रहा था। श्री वरदराज जी ने आपसे दीक्षित होने के लिए प्रेरणा दी है। इसमें मैं विलम्ब नहीं करना चाहता।''

यह कहते-कहते रामानुज श्री महापूर्ण जी के चरणों में साष्टांग लेट गये। महापूर्ण ने उन्हें उठाकर उनका आलिंगन करते हुए कहा—''इसके लिए आप अधीर क्यों हो रहे हैं। हम सब कांचीपुरी चल रहे हैं। वहीं पर दीक्षा की कार्य-विधि सम्पन्न होगी।''

श्री रामानुज ने आग्रह किया और कहा—''गुरुवर ! शरीर का क्या ठिकाना। समय किसका होता है। इसलिए मेरे ऊपर कृपा कीजिए और दीक्षा देने में विलम्ब न कीजिए।''

श्री रामानुज की अभिलाषा जानकर श्री महापूर्ण ने उन्हें विधिपूर्वक दीक्षित किया। तदन्तर रामानुज ने गुरु और गुरु पत्नी को प्रणाम किया। फिर सबको साथ लेकर कांचीपुरी आये।

श्री महापूर्ण के आगमन की सूचना सुनकर श्री कांचीपूर्ण उनसे मिलने आये। रामानुज के आग्रह पर श्री महापूर्ण ने उनकी पत्नी तंजमाम्बा को भी दीक्षित किया। श्री महापूर्ण जी रामानुज के साथ ही रहते थे। दोनों पति पत्नी गुरु-दम्पति की सेवा करते और भागवत चर्चा करते थे। श्री कांचीपूर्ण भी वहीं आ जाते थे और इस प्रकार भक्ति विषयक चर्चा और द्रविड़ पाठ द्वारा त्रिवेणी की पावन धारा में स्नान करने जैसा आनन्द उठाते थे।

इसी प्रकार आनन्द से दिन बीत रहे थे। सात-आठ महीने का समय ऐसे समाप्त हो गया, जैसे दो-चार दिन बीते हों। लेकिन ईश्वर श्री रामानुज को उस स्थिति में रहने देना नहीं चाहते थे। उन्हें तो बहुत बड़ा पद पाना था। अतः उसमें वे रह भी कैसे सकते थे। इसलिए उस स्थिति से उनके मन में उचाट पैदा हो, ऐसा वातावरण उत्पन्न होना जरूरी था।

एक दिन रामानुज श्री महापूर्ण के साथ कहीं गये थे। इसी बीच तंजमाम्बा भोजन बनाने के लिए पानी लेने कुएँ पर गईं। उसी समय श्री महापूर्ण की पत्नी भी कुएँ से पानी निकालने लगीं। बस इसी बात पर तंजमाम्बा उनसे बहुत नाराज हो गई और अनेक अनुचित बातें कह दिया। उन्हें नीच और अपने को उच्च कुलीन ब्राह्मण की बेटी होने की बात बार-बार कहकर उनका हृदय दुखलाने का यत्न किया। खैर, वे कुछ नहीं बोलीं। उनके जाने के बाद तंजमाम्बा ने अपना घड़ा साफ किया और पानी लेकर अपने घर गई।

जब महापूर्ण लौटकर घर आये, तो पत्नी को दुःखित देखकर इसका कारण

पूछा। पत्नी सुशीला थीं—पति को परमेश्वर मानने वाली। उन्होंने साफ-साफ सम्पूर्ण बातें कह दिया। तंजमाम्बा द्वारा कही गई बातें सुनकर श्री महापूर्ण ने कहा—"अब भगवान् की इच्छा नहीं कि हम लोग यहाँ रहें। प्रभु जो कुछ करते हैं, सभी मङ्गल के लिए करते हैं।" इतना कहकर उन्होंने रामानुज के लौटने की प्रतीक्षा किए बिना ही वह स्थान त्याग दिया और श्री रङ्गम् के लिये चल पड़े।

श्री महापूर्ण के प्रभाव और साथ से रामानुज का मन परम शान्त हो गया था। उनके सत्संग से उन्हें सम्पूर्ण द्रविड़ पाठ और शास्त्रों का ज्ञान हो चुका था। अतः उस दिन वे गुरु की विशेष पूजा करना चाहते थे। इसी विचार से फल-फूल लेकर जब वे घर लौटे तो गुरु दम्पति को वहाँ न देखकर अपनी पत्नी से पूछा। उनकी पत्नी असत्य बोल गई। अपने को निर्दोष बनाये रखने के लिए उसने कहा—"सबेरे कुएँ पर गुरु पत्नी से मेरा झगड़ा हो गया। मैंने कुछ कहा भी नहीं, लेकिन गुरु महाराज को इतना क्रोध आया कि वे पत्नी सहित कहीं चले गये।"

उसकी बात सुनते ही रामानुज के पैरों के नीचे से जैसे जमीन ही खिसक गई हो। वे क्रोध से काँपने लगे। उन्होंने तंजमाम्बा से कहा—"पापिन! तेरा मुख देखने में भी पाप होता है।" इसके बाद जो फल-फूल वे लाये थे, उसे लेकर श्री वरदराज के मन्दिर में पूजा करने चले गये।

उनके मन्दिर जाने के बाद एक अत्यन्त दुर्बल ब्राह्मण भिक्षा के लिए तंजमाम्बा के पास आया। उसने भिक्षा देने से अस्वीकार कर दिया। वही ब्राह्मण श्री रामानुज को मन्दिर से लौटते समय मार्ग में मिला। उसकी दुर्बल शारीरिक दशा देखकर रामानुज ने उससे कुछ पूछा। उस ब्राह्मण ने कहा—"मैं तो आप के यहाँ आज अतिथि होकर गया था। किन्तु आपकी पत्नी ने मुझे भिक्षा देना अस्वीकार करते हुये अनादर से लौटा दिया।"

श्री रामानुज ने कहा—"आप कृपया मेरे साथ आयें। मैं कुछ फल और वस्त्र आदि आपको देता हूँ। आप उन्हें ले जाकर तंजमाम्बा को दे दें। इसके बाद वह आपका विशेष आदर करेगी।"

रामानुज ने कुछ फल, ताम्बूल और नया वस्त्र उस ब्राह्मण को दिया। उनके साथ ही उसके पिता के तरफ से लिखा एक पत्र भी। जब ब्राह्मण यह सब सामान लेकर तंजमाम्बा के पास पहुँचा, तो वह परम प्रसन्न हुई और ब्राह्मण की बड़ी आवभगत की। पत्र रामानुज के नाम था। उसमें लिखा था कि "बेटा,

मेरी दूसरी कन्या का विवाह शीघ्र होने वाला है। इसलिए तुम तंजमाम्बा को भेज दो। यदि कोई विशेष कठिनाई न हो, तो तुम भी आ जाओ। तुम्हारे आने से अतिशय प्रसन्न होऊँगा।"

जब रामानुज लौटकर घर आये, तो पत्नी ने पत्र उन्हें दिया। उन्होंने कहा—"तुम चली जाओ। मुझे तो बहुत आवश्यक कार्य हैं। इस समय तो मैं न चल सकूँगा। बाद में आने का प्रयत्न करूँगा। अपने पिता-माता से मेरा प्रणाम कह देना।"

तंजमाम्बा के मायके जाने से उन्हें परम शान्ति मिली। पत्नी मायके के मार्ग में थी और रामानुज श्री वरदराज के मन्दिर में। मन्दिर द्वार पर साष्टाँग करते हुये उन्होंने कहा—"भगवन्! पिशाचिनी से बड़े यत्न से छुटकारा पाया है। अब आप मुझे अपनी शरण में ले लें।

फिर श्री वरदराज की मूर्ति के सम्मुख प्रणाम करते हुये आतुरता भरे स्वर से कहा—"नाथ! आज से अब मैं सब प्रकार से तुम्हारा हूँ। मुझे ग्रहण करो।"

रामानुज ने अपने को श्री वरदराज के चरणों में अर्पित करके काषाय वस्त्र धारण कर लिया और मन्दिर के समीप अनन्त सरोवर पर आ गये। उसी समय श्री काँचीपूर्ण जी वहाँ पहुँच गये। काषाय वस्त्र में प्रथम बार रामानुज का दीप्तिमान रूप लावण्य देखकर श्री काँचीपूर्ण उन्हें देखते ही रह गये। कुछ क्षणों बाद उनके मुख से निकल पड़ा—य · ति · रा ज!

लोक उपकार

श्री रामानुज के संन्यास ग्रहण करने पर लोगों को बहुत आश्चर्य हुआ। उनकी अवस्था अभी केवल बीस वर्ष की थी और घर में सुन्दर पत्नी थी। इस स्थिति में उनका संन्यास ग्रहण क्या उचित था ? इस प्रश्न को लेकर आशंकायें व्यक्त की गई। रामानुज की पत्नी तंजमाम्बा का स्वभाव उनसे सर्वथा भिन्न था। वह शरीर को अधिक महत्व देती थी और शृंगार आदि बाहरी आडम्बर में उसका मन बहुत लगता था। साथ ही वह अहंकारी और अविवेकी भी थी। रामानुज का मन इससे दुःखी रहता था। लेकिन वे उसे क्षमा ही करते जाते थे। किन्तु महापूर्ण की पत्नी के साथ उसका दुर्व्यवहार उन्हें असहनीय हो गया। भगवान् के प्रति उनकी भक्ति तो प्रारम्भ से ही प्रगाढ़ थी, अब परिवार और मन्दिर के बीच की दूरी उनके लिए अशान्ति का कारण बन गई। माता-पिता पहले ही बैकुण्ठवासी हो चुके थे। पत्नी का स्वभाव उनके स्वभाव के विपरीत पड़ता था। उनका मन ऊबने लगा। अतः पत्नी का त्याग उनके लिए अवश्यम्भावी हो गया।

संन्यास ग्रहण के पूर्व माता-पिता की अनुमति परम्परा से आवश्यक मानी गई है। विवाहित होने की स्थिति में पत्नी की भी सहमति अपेक्षित है। लेकिन इसके लिए माता का महत्व बहुत अधिक है। स्वार्थ और अपनी देह सुख के लिए पत्नी शायद ही ऐसे कार्य के लिए अपनी सहमति दे, इसीलिए शास्त्रकारों ने इसे आवश्यक नहीं माना है। लेकिन माता की अनुमति तो हर स्थिति में जरूरी है। श्री शंकर बाल ब्रह्मचारी थे। उनके साथ पत्नी का कोई ही प्रश्न नहीं उठता। उन्हें माता की आज्ञा मिल गई थी। श्री चैतन्य महाप्रभु विवाहित थे, लेकिन संन्यास लेने की अनुमति उन्होंने अपनी माता से ही लिया था, अपनी पत्नी विष्णुप्रिया जी को उन्होंने पहले कुछ नहीं बताया था। श्री रामानुज के साथ स्थिति भिन्न थी। उनकी पत्नी का स्वभाव ऐसा नहीं था जिससे विचार-विमर्श किया जा सके। अतः उन्हें अपनी अन्तःप्रेरणा से ही निश्चय करना था और यही उन्होंने किया।

रामानुजाचार्य का संन्यासी वेश में जो स्वरूप बना था, उसे देखते ही बनता था। उनके मन में अपार शान्ति थी और मुख-मण्डल की आभा सूर्य की

तेज किरणों की भांति दमकती थी। शास्त्रसम्मत उनकी भक्तिपूर्ण बातों को सुनने तथा दर्शन के लिए सैकड़ों की संख्या में लोग प्रत्येक दिन आते थे। एक दिन यादव प्रकाश की माता श्री वरदराज के मन्दिर में गईं। वहां स्वामी रामानुजाचार्य को देखकर उनके मन में ऐसा लगा—"हो न हो यह मनुष्य रूप में कोई देव हैं।" उन्होंने अपने घर पहुँच कर अपने पुत्र से ये बातें कहीं और उन्हें समझाते हुए कहा—"बेटा ! रामानुजाचार्य के प्रति अपना विरोध त्याग कर उनके प्रति प्रेम और श्रद्धा का व्यवहार करो। गुरु होने का अपना अहंकार त्याग कर उनका शिष्य बन जाओ। इससे तुम्हारा कल्याण होगा और तुम्हें शान्ति मिलेगी।"

उस समय यादव प्रकाश को माता की यह शिक्षा अच्छी नहीं लगी, लेकिन रामानुजाचार्य की बढ़ती लोकप्रियता और जनता की उनमें अपार श्रद्धा की भावना उनसे छिपी नहीं थी। धीरे-धीरे लोगों में यह चर्चा थी कि रामानुजाचार्य साधारण मनुष्य नहीं, अवतारी महापुरुष हैं। यादवप्रकाश ये बातें अनिच्छापूर्वक सुनते और ईर्ष्या से उनका हृदय पीड़ित होता रहता।

श्री रामानुजाचार्य के प्रति पंडितों, विज्ञों तथा सर्वसाधारण की भावना तथा सच्चाई का पता लगाने के लिए एक दिन यादव प्रकाश स्वयं श्री वरदराज के मन्दिर में गये और तदन्तर रामानुजाचार्य के पास। अपने गुरु को आते देख, वे आदरपूर्वक उनकी अगवानी करने को बढ़े और उनके बैठने के लिए उच्च आसन दिया। रामानुजाचार्य के आतिथ्य सत्कार से यादवप्रकाश मन-ही-मन बहुत प्रसन्न हुए। वहाँ पहुँचने के साथ ही उनके मन की मलिनता समाप्त हो गई थी और रामानुजाचार्य को हत्या के षड्यन्त्र के समय में उनके मन में जो अशान्ति पैदा हुई थी, वह भी जाती रही। रामानुजाचार्य का गुरु होने का उनके भीतर जो अहंकार था, वह भी जाता रहा। रामानुजाचार्य की प्रतिभा और आभा के सामने वे अपने को एकदम बौना अनुभव करने लगे।

अपने मानसिक विकारों के समाप्त होते ही यादव प्रकाश के अन्दर सगुण ईश्वरोपासना के प्रति जिज्ञासा बढ़ने लगी। उन्होंने रामानुजाचार्य से अनेक प्रश्न पूछे और अपनी शंका समाधान के लिए तर्क भी किये। लेकिन उनके सम्पूर्ण तर्कों को निरस्त कर रामानुजाचार्य ने उन्हें निरुत्तर कर दिया। इस पर यादव प्रकाश को क्रोध नहीं आया। बल्कि उन्हें ऐसे लगा जैसे उनके हृदय में कोई ज्योति प्रज्वलित होकर रामानुजाचार्य के चरणों की ओर उनका मार्ग-दर्शन कर रही हो। और ऐसा ही हुआ। यादव प्रकाश ने रामानुजाचार्य के

चरण पकड़ लिये और उनसे शिष्य बना लेने का आग्रह करने लगे। इस पर रामानुजाचार्य को आश्चर्य हुआ। उन्होंने कहा कि—"आप हमारे गुरु हैं, वेद शास्त्रों का आपको विधिवत् ज्ञान है। आप ऐसा क्यों कह रहे हैं?"

लेकिन यादव प्रकाश के वास्तविक ज्ञानचक्षु अब खुल चुके थे। उनका अहंकार समाप्त हो चुका था। प्रकाश की किरण वे स्पष्टतः देख रहे थे। अतः अब रामानुजाचार्य के चरणों से दूर नहीं जाना चाहते थे। रामानुजाचार्य ने उन्हें अपना शिष्य बना लिया। यादव प्रकाश के सभी मानसिक क्लेश दूर हो गये। उनके हृदय की जलन जाती रही। वे अब सचमुच ही एक महात्मा जैसे दिखने लगे। हृदय-ज्योति की आभा उनके मुखमण्डल की शोभा बढ़ाने लगी।

यादवप्रकाश के स्वामी रामानुजाचार्य का शिष्य होने की सूचना बातों-बातों में चारों तरफ फैल गई। श्रीरंगम् में जब लोगों को यह ज्ञात हुआ तो आनन्द की लहर दौड़ गयी। सब को यह विश्वास हो गया कि इस घटना से श्री आलवन्दार यमुनाचार्य द्वारा प्रतिपादित वैष्णव सम्प्रदाय को बल मिलेगा। लोगों को यह भी विश्वास हो गया कि रामानुजाचार्य निश्चय ही--रामानुज--अर्थात् भगवान् श्रीराम के छोटे भाई लक्ष्मण जी के अवतार हैं।

श्री महापूर्ण जी कांचीपुरम् से रामानुज से मिले बिना ही श्रीरंगम् लौट आये थे। अतः वे उन्हें अपने साथ नहीं ला सके थे। यों श्रीरंग जी का कार्य विधिवत् सम्पादित हो रहा था, किन्तु यमुनाचार्य के अभाव की पूर्ति नहीं हो पा रही थी। सब का विचार यही था कि बैकुण्ठवासी श्री आलवन्दार की इच्छा की पूर्ति के लिए रामानुजाचार्य को श्रीरंगम् बुलाकर मन्दिर का कार्यभार उन्हें सौंपना चाहिए। स्वामी रामानुजाचार्य श्री वरदराज की सेवा में रहते थे और उनकी प्रेरणा के बिना कहीं जाना उनके लिए सम्भव नहीं था। यह सोचकर श्री महापूर्ण ने यह सुझाव रखा कि श्रीरंगम् से प्रसिद्ध संगीतज्ञ श्रीवररंग को कांचीपुरम् भेजा जाय। श्री वरदराज को वे अपनी संगीत कला से प्रसन्न करेंगे और उनसे श्री रामानुजाचार्य को श्रीरंगम् जाने की प्रेरणा देने की प्रार्थना करेंगे। यही हुआ। श्रीवररंग कांचीपुरी गये और अपनी मधुर संगीत और कीर्तन द्वारा श्री वरदराज जी से प्रार्थना किया कि "यतिराज को आप अपने दूसरे मन्दिर श्रीरंग जी की सेवा में जाने की प्रेरणा दें।" इस प्रकार स्वामी रामानुजाचार्य श्रीरंग पहुँचे और श्रीरंग जी की सेवा में तल्लीन हो गये।

स्वामी रामानुजाचार्य के यहाँ आते ही मन्दिर की चहल-पहल व्यापक रूप से बढ़ गई। नये स्वामी के आने की बात बिजली की भाँति आस-पास में फैल गई। रामानुजाचार्य के यहाँ आने के पूर्व उनकी कीर्ति और यश कथा पहुँच चुकी थी, इसलिए उन्हें आया जानकर दर्शनार्थियों की अपार भीड़ होने लगी। स्वामी जी ने अपना कार्य-क्रम निश्चित किया। घंटों श्रीरंग जी की सेवा में बिताते और फिर स्वयं पढ़ते और शिष्यों को पढ़ाते थे। उनकी निर्मल, निश्चल सगुणोपासना की बात का स्थायी प्रभाव भक्तों और शिष्यों पर पड़ता था। स्वामी रामानुजाचार्य के श्रीरंग जी के मन्दिर में आ जाने के बाद कुछ ही दिनों में वैसी ही व्यस्त और आनन्दमयी स्थिति हो गई, जैसी कि श्री यमुनाचार्य के समय में थी।

रामानुजाचार्य की बढ़ती कीर्ति और मान का उनके ऊपर कोई प्रभाव नहीं था। जैसे वे कांचीपुरी में थे वैसे ही श्रीरंगम् में। लेकिन श्रीरंगम् के आचार्यों को यह स्पष्ट ज्ञात हो रहा था कि रामानुजाचार्य के यहाँ पधारने के बाद वहाँ का ऐश्वर्य रूप निखर आया है। सैकड़ों की संख्या में लोग रामानुज स्वामी के शिष्य होने के लिए और सैकड़ों उनकी भक्तिपूर्ण गाथा सुनने आते थे। उनके शिष्यों में बड़े-बड़े ज्ञानी, पंडित और राजे-महाराजे भी होते और साधारण जनता भी।

श्रीरंग जी के मन्दिर से कुछ ही दूरी पर एक तत्वज्ञानी महात्मा रहते थे। उनका नाम श्री गोष्ठीपूर्ण था। श्री महापूर्ण का इच्छानुसार भक्तिमार्ग का रहस्य जानने के लिए श्रीरामानुजाचार्य उनके पास गये। लेकिन उन महात्मा जी ने उनकी ओर कोई ध्यान नहीं दिया। वे लौट आये और इसी प्रकार अनेक बार गये और लौटे। लेकिन रामानुजाचार्य को इसके लिए कोई दुःख नहीं हुआ। उन्होंने सोचा कि महात्मा गोष्ठीपूर्ण जी उन्हें उपदेश देने का अधिकारी नहीं समझते। लेकिन अन्त में श्री गोष्ठीपूर्ण जी इस शर्त के साथ उन्हें उपदेश देने को राजी हुए कि वे उपदेश की बातें किसी अन्य से नहीं कहेंगे। श्री गोष्ठीपूर्ण ने बताया कि "मैं तुम्हें ऐसी बात बताने जा रहा हूँ, जिनके श्रवण मात्र से सुनने वालों को मोक्ष प्राप्त हो जायगी।"

श्री गोष्ठीपूर्ण का उपदेश सुनकर रामानुजाचार्य भाव विह्वल और आनन्दित हो उठे। उनके मन, वाणी और शरीर में जोश और उमंग पैदा हो गई। वे वहाँ से जल्दी-जल्दी मन्दिर के लिए चल पड़े और रास्ते में जो मिलता उससे कहते—"श्री रंगजी के मन्दिर के सामने चलो। वहाँ तुम्हें आज एक ऐसा मंत्र बताऊँगा, जिससे स्वर्ग की प्राप्ति होगी।" यह बात हवा की तरह प्रचारित

हो गई और बात-बात में हजारों की संख्या में लोग मन्दिर के सामने एकत्रित हो गये।

रामानुजाचार्य ने मन्दिर के सामने छत पर चढ़कर श्री गोष्ठीपूर्ण द्वारा बताये मन्त्र को उद्घोषित कर दिया। उसे सुनकर सब का पाप पुंज नष्ट हो गया लेकिन जब इसकी सूचना महात्मा गोष्ठीपूर्ण को मिली, तो वे उनके दर्शन के लिए गये। उन्होंने उन्हें फटकारते हुए कहा कि—"मेरे स्पष्ट आदेश के बाद भी गोपनीय मन्त्र रहस्य तुमने सबको बता दिया। तुम नरकगामी होओगे।"

रामानुजाचार्य ने कहा—"महाराज, मेरे लिए यह बहुत बड़ी प्रसन्नता और सन्तोष की बात है। आपके कथनानुसार उस मन्त्र को सुनने वालों को स्वर्ग मिलेगा। यदि मेरे कारण इतने लोग विष्णुधाम जायँ, तो अकेले नरक जाने में मुझे कोई दुःख नहीं होगा।"

रामानुजाचार्य की बात सुनकर श्री गोष्ठीपूर्ण जी बहुत आनन्दित हुए। उन्होंने अपने पुत्र सौम्यनारायण को शिष्य रूप में उन्हें अर्पण किया और उन्हें भावभीनी विदाई दी।

●

अद्‌भुत प्रभाव

हम कभी-कभी किसी महापुरुष के जीवन से सम्बन्धित ऐसी घटनाओं को पढ़ते हैं; जिन पर सहसा विश्वास नहीं होता। रामानुजाचार्य के जीवन से भी सम्बन्धित ऐसी अनेक घटनायें हैं, जो अत्यन्त विलक्षण और अद्‌भुत हैं। जिनका हृदय पवित्र होता है, वे दूसरों के उदय होने पर प्रसन्न होते हैं और इसके विपरीत जो मलीन हृदय के दुष्ट लोग हैं, दूसरों की प्रशंसा सुनकर उनके हृदय में जैसे सांप लेटता हो। ऐसे लोगों की भी संसार में कमी नहीं है। इसी प्रकार के कुछ कार्यकर्ता श्रीरंग जी के मन्दिर में थे। उनके विधिपूर्वक भगवान् की आरती-पूजा न करने के कारण स्वामी रामानुजाचार्य उन्हें सीख और अनुशासन देते रहते थे। यह उन्हें पसन्द नहीं था। उधर कुछ लोग स्वामी जी के पराक्रम से भी जलते थे। अतः विष देकर उन्हें मार डालने की योजना बनाई गई। इस कार्य के लिए श्रीरंग जी के पुजारी को मिलाया गया। उसने चरणा-मृत में विष मिलाकर रामानुजाचार्य को दिया। लेकिन भला विष भगवान् स्वरूप भक्त पर क्या असर करता?

रामानुजाचार्य का बहुत समय तक नियम यह था कि वे भिक्षा मांगकर लाते और उसे श्रीरंग जी को अर्पण करके, प्रसाद पाते थे। एक दिन उनकी भिक्षा में पर्याप्त मात्रा में विष मिलवा दिया गया। जिस स्त्री ने यह पाप-कर्म किया, वह बहुत दुःखी थी, किन्तु अपने पति की प्रेरणा से यह कुकृत्य करने को उद्यत हुई थी। विष में मिले अन्न की भिक्षा देकर वह मानसिक रूप से अशान्त हो उठी। अपने पाप के शमन के लिए भिक्षा देने के बाद उसने स्वामी जी को प्रणाम किया। उसकी भाव-भंगिमा देखकर स्वामी जी जान गये कि हो-न-हो यह भिक्षान्न शुद्ध नहीं है। उसे उन्होंने कावेरी में बहा दिया।

जिन व्यक्तियों ने उन्हें विष देने की योजना बनाई थी, वे परम प्रसन्न थे कि विषयुक्त अन्न का प्रसाद पाकर स्वामी जी तत्काल स्वर्गलोक सिधार गये होंगे और प्रातः उनकी अन्त्येष्टि होगी। लेकिन ऐसा कुछ नहीं हुआ। प्रातः-काल वे दुष्ट प्रकृति लोग जब घर से बाहर मन्दिर के पास पहुँचे, तो भक्तों और शिष्यों से युक्त रामानुजाचार्य को प्रसन्न मुद्रा में देख उन्हें बहुत आश्चर्य हुआ। वे पुष्प-मालाओं से लदे थे और उनके शिष्य भजन और कीर्तन द्वारा

सम्पूर्ण वातावरण को अत्यन्त शोभायमान और आनन्दपूर्ण बनाये हुए थे। स्वामी जी की अपूर्व शोभा बनी थी। उनके मुखमण्डल से प्रकाश की किरणें प्रज्वलित हो रही थीं। यह सब देखकर षड्यन्त्रकारियों का हृदय पश्चात्ताप से भर गया। उस व्यक्ति ने, जिसने अपनी स्त्री को प्रेरित करके स्वामी जी को विष भरा अन्न दिलवाया था, वह दौड़ते हुए आकर उनके चरणों में लेट गया और अपने पाप को स्वीकार किया। स्वामी जी ने उसे शान्त किया और क्षमा प्रदान करते हुए, उसके हृदय को शुद्ध करने के उद्देश्य से अनेक सद्परामर्श दिया।

श्रीरंग जी के मन्दिर की व्यवस्था भार सँभालने के बाद श्री रामानुजाचार्य के मन में तीर्थयात्रा की इच्छा हुई। वे अपने मौसेरे भाई गोविन्द और मामा महात्मा शैलपूर्ण से भी मिलना चाहते थे। यादवप्रकाश के साथ गंगा स्नान तथा उत्तर भारत के तीर्थ-स्थलों के दर्शन के बाद गोविन्द अपने गाँव न लौट कर कालहस्ति में ही रह गये थे और वहीं शिवजी की अर्चना-पूजा करते थे। कुछ समय बाद साधु मामा के प्रभाव और प्रयत्न से वे श्रीवैष्णव हो गये थे और मामा की ही सेवा में रहने लगे थे। श्री शैलपूर्ण जी उन दिनों श्री शैल पर्वत पर निवास करते थे।

श्री रामानुजाचार्य भगवती शारदा और श्री वेंकटनाथ के दर्शन तथा उन दोनों व्यक्तियों से मिलने का विचार करके प्रस्थान किये। उनके साथ उनके कुछ शिष्य भी थे। रास्ते में अष्टसहस्र नामक एक गांव था। वहाँ उनके दो शिष्य रहते थे। एक बहुत अकिंचन था दूसरा सम्पन्न। पहले का नाम श्री वरदाचार्य और दूसरे का नाम श्री यज्ञेश था। श्री रामानुजाचार्य उस ग्राम में शिष्यों सहित कुछ समय तक विश्राम करना चाहते थे। अतः अपने एक शिष्य को उन्होंने यज्ञेश के पास भेजा। श्री रामानुजाचार्य के आगमन का समाचार सुनकर वह इतना आनन्दमग्न हो गया कि साधारण शिष्टाचार तक भूल गया। गुरु की आवभगत की तैयारी की व्यवस्था में अपनी हवेली में दौड़ा-दौड़ा गया और कुछ देर तक नहीं लौटा। श्री रामानुजाचार्य द्वारा भेजे गये उस शिष्य ने यह सोचकर कि अपने धन के मद में यज्ञेश संन्यासियों की उपेक्षा कर रहा है, कुछ असन्तुष्ट होकर लौट गये और गुरु जी से अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त कर दी। रामानुजाचार्य कुछ न बोले और शिष्य समेत श्री वरदाचार्य के घर पहुँच गये। उस समय श्री वरदाचार्य भिक्षा के लिए बाहर गये थे। घर में उनकी पत्नी थी। गुरुदेव को अपने घर आया देखकर वह बहुत प्रसन्न

हुई। उसने घर के भीतर से कहा—'मेरे पति भिक्षा हेतु कहीं गये हैं, आते ही होंगे। तब तक आप लोग विश्राम करें।''

श्री वरदाचार्य बहुत ही गरीब ब्राह्मण थे। एक घर में भिक्षा मांगते थे। जो कुछ मिल जाता था उसी का प्रसाद बनता और दोनों प्राणी उसे संतोष-पूर्वक खाकर भगवान् की आराधना में मग्न रहते थे। वस्त्र का सर्वथा अभाव था। इसीलिए गुरु के आगमन पर भी श्री वरदाचार्य की पत्नी इच्छा होने पर भी घर के बाहर नहीं निकल पा रही थी। यतिराज की दिव्यदृष्टि से संकोच का यह कारण छिपा नहीं रह सका। उन्होंने झट अपना दुपट्टा घर के भीतर फेंकते हुए कहा—"बेटी, इससे तुम अपने शरीर की रक्षा करो।"

श्री वरदाचार्य की पत्नी गुरुदेव के दुपट्टे से अपने शरीर को ढंक कर बाहर निकली और कुएं से पानी लाकर गुरुदेव से आग्रह किया—"आप लोग हाथ-पैर धोयें, मैं भोजन की व्यवस्था कर रही हूँ।"

लेकिन भोजन की व्यवस्था कैसे हो? घर में मुट्ठी भर भी अन्न तो नहीं था। पति बाहर थे। पत्नी को बड़ी चिन्ता हुई। घर के पास ही एक ग्रामीण बनियां रहता था। रोज प्रयोग मे आने वाली चीजें उसके पास रहती थीं। लेकिन वह दुष्ट प्रकृति का व्यक्ति था। श्री वरदाचार्य की पत्नी बहुत सुन्दर थीं। उन्हें वह कुदृष्टि से देखता था। ओछे चरित्र की स्त्रियों को भेजकर पंडित जी की पत्नी को अपनी ओर आकृष्ट करने के लिए तरह-तरह से प्रलोभन देता था। गरीब होने के कारण इस प्रकार की अपमानजनक बातें सुनकर, वे ईश्वर का स्मरण करतीं और चुप रह जाती थीं। उस दिन अतिथि-सत्कार की विकट समस्या उनके सामने उपस्थित हो गई थी। वे सीधे उस बनियां के पास गईं और उससे बोलीं—"मेरे घर कुछ परमपूज्य अतिथि आ गये हैं। उनके सत्कार के लिए घर में कुछ नहीं है। तुम कुछ सामान मुझे दे दो। उन लोगों को भोजन करा लेने के बाद मैं तुम्हारे पास आ जाऊँगी।"

यह सुनकर बनियाँ बहुत प्रसन्न हुआ। जल्दी-जल्दी माँगा हुआ सब सामान दे दिया। गृहस्वामिनी सामान लेकर घर गई और बड़ी श्रद्धा से प्रसाद तैयार करके अतिथियों का सत्कार किया। भोजन करके श्री रामानुजाचार्य और उनके शिष्य विश्राम करने लगे। तब तक श्री वरदाचार्य भिक्षा लेकर आ गये। गुरुदेव को अपने घर आया देखकर वरदाचार्य की प्रसन्नता का वारापार न रहा। वे भिक्षा के अन्न से अतिथियों की सेवा के लिए पत्नी से जब कहने लगे, तो

गृहस्वामिनी ने सब बातें बता दी। पत्नी की बातें सुनकर उनका रोम-रोम पुलकित हो गया। उन्होंने कहा—"तुम्हारा शरीर गुरु सेवा के निमित्त काम आये, इससे बढ़कर इसकी और क्या उपयोगिता हो सकती है? तुम धन्य हो।"

गुरु का उच्छिष्ट प्रसाद पति को खिलाकर और स्वयं भोजन करके वे बनियाँ के पास गई। उन्हें देखते ही बनियाँ चारपाई से खड़ा होकर दौड़ते हुए उनके पैरों पर लेट गया और बोला—"मां, मुझ पापी को क्षमा कर दो। मुझसे बड़ा अपराध हुआ है। यदि तुम मुझको क्षमा न करोगी, तो मेरा लोक परलोक दोनों बिगड़ जायेगा।"

उस दुष्ट बनियां के स्वभाव में ऐसा अद्भुत परिवर्तन देखकर श्री वरदाचार्य की पत्नी को बहुत आश्चर्य हुआ। लेकिन वे तत्काल ही समझ गई कि वह सब गुरुदेव रामानुजाचार्य का प्रभाव था।

दिग्विजय यात्रा

श्री रामानुजाचार्य जब बहुत देर तक यज्ञेश के यहां नहीं पहुँचे, तो उसे बड़ा आश्चर्य हुआ। तब पता लगाते-लगाते वह स्वयं श्री वरदाचार्य के यहाँ पहुँचा। श्री रामानुजाचार्य का दर्शन कर वह बहुत आनन्दित हुआ। उसने अपने गुरुदेव से शिकायत करते हुए कहा कि "मैंने स्वागत-सत्कार की सम्पूर्ण व्यवस्था कर रखी है और आप पधारे नहीं।" तब रामानुजाचार्य ने उससे सब बातें बताकर वापसी में आने का आश्वासन देकर उससे और वरदाचार्य से विदा ली। श्री शैल पर्वत के पास पहुँच कर उन्होंने गोविन्द को बुलवाया। श्रीरामानुजाचार्य को आया जानकर गोविन्द दौड़े-दौड़े आये और उनके चरणों से लिपट गये। स्वामी जी ने उन्हें उठाकर अपने हृदय से लगा लिया और कई क्षण तक उन्हें हृदय से चिपकाये रहे। फिर रामानुजाचार्य शैल पर्वत पर गये और अपने ऋषितुल्य मामा श्री शैलपूर्ण जी के दर्शन किये। शेषावतार रामानुज के दर्शन से वयोवृद्ध शैलपूर्ण के नेत्र मानो तृप्त ही नहीं हो रहे थे। उन्होंने बड़े ही स्नेह, प्यार और श्रद्धा से श्री वेंकटनाथ जी का प्रसाद रामानुजाचार्य को अर्पित किया।

स्वामी जी को वहाँ आया जानकर बड़े-बड़े विज्ञ, पंडित, ऋषि और महात्मा उनके दर्शन के लिए आते थे। वहाँ का राजा भी अपने मन्त्रियों सहित स्वामी जी के दर्शन के लिए आया और उनका शिष्य बनने के लिए आग्रह करने लगा। विशाल हृदय यतिराज ने राजा का आग्रह स्वीकार कर उसे शिष्य बना लिया। दक्षिणा स्वरूप राजा ने अपने राज्य का एक बहुत बड़ा हिस्सा यतिराज को अर्पण किया। उसको उन्होंने तत्काल गरीब ब्राह्मणों में बांट दिया।

यतिराज श्री वेंकटनाथ के मन्दिर में दर्शन के लिए गये और बहुत विधि-पूर्वक पूजा किया। तदन्तर कुछ काल वहाँ और निवास करने के बाद उन्होंने श्रीरंगम् वापस जाने की बात श्री शैलपूर्ण को बताई। श्री रामानुजाचार्य के वहाँ निवास से श्री शैलपूर्ण को आत्मिक और आध्यात्मिक दोनों आनन्द थे। लेकिन वे जानते थे कि रामानुजाचार्य साधारण मनुष्य नहीं हैं—अवतारी महापुरुष थे। कुछ विशेष प्रयोजनवश उनका अवतार हुआ था। अतः अपनी सहमति देते हुए बोले—"बेटा ! इस बूढ़े की सुधि लेते रहना न भूलना।"

चलसे समय स्वामी रामानुज ने श्री शैलपूर्ण को अनुमति से गोविन्द को अपने साथ ले लिया। गोविन्द को अपने साथ पाकर वे बहुत प्रसन्न थे।

श्री रामानुजाचार्य के श्रीरंगम् वापस आने पर उनके शिष्यों एवं मठवासियों को बड़ी प्रसन्नता हुई। फिर पठन-पाठन का विधिवत् कार्य चलने लगा। उन्होंने "सहस्रगीति" नामक द्रविण पुस्तक अपने शिष्यों को पढ़ाया। फिर श्री यमुनाचार्य के पार्थिव शरीर के समक्ष की गई अपनी एक प्रतिज्ञा के अनुसार "भाष्य" अथवा बोधायन-वृत्ति नामक पुस्तक की रचना किया। इसके अनन्तर उन्होंने वेदान्तद्वीप, वेदान्तसार, वेदार्थसंग्रह और गीता भाष्य नामक चार और पुस्तकें लिखीं। इस प्रकार उनकी दूसरी प्रतिज्ञा भी पूरी हुई।

लेकिन उन्हें अभी बहुत कुछ करना शेष था। उनकी विद्वता और ईश्वरीय बोध के प्रभाव से कुछ बहुत अच्छे-अच्छे विद्वान् और साधु स्वभाव वाले व्यक्ति उनके शिष्य हो गये थे। उन्हें साथ लेकर स्वामी जी की इच्छा देश भ्रमण की हुई। इस भ्रमण का उद्देश्य केवल तीर्थाटन अथवा देशाटन नहीं था। श्री यमुनाचार्य के मृत शरीर के समक्ष अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार यतिराज को श्री वैष्णव मत को सशक्त एवं सुदृढ़ बनाकर इसकी आधारशिला को मजबूती के साथ समाज में स्थिर करना था। अतः इस कार्य के लिए देश के कोने-कोने में जाकर श्री वैष्णव धर्म की अच्छाइयों से लोगों को अवगत कराना आवश्यक था। यह कोई साधारण कार्य नहीं था। इसके लिए योग्य और विज्ञ सहयोगियों की आवश्यकता थी।

भगवत् कृपा से यतिराज के कुछ शिष्य बहुत ही मेधावी और प्रकाण्ड पंडित थे। पूरे-के-पूरे ग्रंथ उन्हें कंठस्थ थे। यतिराज ने वेद-वेदान्तों का विधिवत् शास्त्रीय अध्ययन उन्हें कराया था। श्रीरंग जी की पूजा-अर्चना की व्यवस्था का सम्पूर्ण भार अपने सहयोगियों को सौंपकर श्री रामानुजाचार्य अनेक योग्य शिष्यों से युक्त अपनी प्रतिज्ञा पूर्ति के लिए निकल पड़े।

सर्वप्रथम वे चोलमण्डल की राजधानी गये। तदन्तर कुम्भकोकणम् गये। ये दोनों स्थान श्री वैष्णव मत विरोधी पंडितों से पूर्ण थे। यतिराज ने यहां पंडितों की सभायें की। उन्हें वेदांग परिचर्चा के लिए आमंत्रित किया। यतिराज की भक्ति भावनापूर्ण गूढ़ बातों को सुनकर पंडितों को प्रकाश मिला। परिणाम-स्वरूप हजारों दूसरे मतावलम्बी श्री वैष्णव मत में सम्मिलित हो गये। वहाँ से यतिराज शिष्यों सहित केरल प्रदेश गये। त्रिवेन्द्रम् में उन्होंने श्री अनन्तशयन पद्मनाभ भगवान् का दर्शन किया। यहां भी बहुत लोग उनसे दीक्षित हुए।

दक्षिण के प्रायः सभी प्रदेशों में उनकी ख्याति बढ़ने लगी और अधिकाधिक संख्या में विज्ञ, पंडित तथा जन-साधारण श्री वैष्णव धर्म की ओर आकर्षित होने लगे।

दक्षिण प्रदेश के प्रायः सभी अन्य मतावलम्बी मुख्य-मुख्य केन्द्रों की यात्रा और अभूतपूर्व सफलता के बाद वे उत्तर भारत की यात्रा के लिए चले। वे द्वारिका, पुष्कर, मथुरा, वृन्दावन, अयोध्या और नेमिषारण्य आदि तीर्थों में गये। इन स्थानों में जाकर सर्वप्रथम वे यहाँ के मुख्य मन्दिरों में जाते, विधिवत् पूजन करते और तत्पश्चात् पंडितों एवं शास्त्रज्ञों से मिलते। जिन स्थानों पर श्री वैष्णव मत का प्रचार अथवा प्रचलन पूर्व से ही था, वहाँ यतिराज बहुत कम समय तक निवास करते थे; लेकिन जहाँ स्थिति अनुकूल नहीं होती थी, वहाँ निवास की अवधि अधिक होती थी। अपने निवास काल में वे पंडितों से शास्त्रार्थ करते थे। कहीं-कहीं तो वे शास्त्रार्थ इतने वृहद् रूप के होते कि कई दिनों तक चलते थे। लेकिन विजय श्री यतिराज के साथ ही होती और अपनी पराजय के बाद बहुत बड़ी संख्या में लोग विधिवत् श्री वैष्णव हो जाते थे।

अपनी इसी यात्रा में श्री रामानुजाचार्य कश्मीर गये और वहाँ शारदा देवी का दर्शन किया। तदनन्तर कश्मीरी पंडितों से उनका शास्त्रार्थ प्रारम्भ हुआ। पंडितों ने अपने को पराजय की स्थिति में पाकर उनके प्राणनाश के लिए अभिचार करना शुरू किया। लेकिन इसका परिणाम उलटा हुआ। अभिचार करने वालों को ही अपने प्राण गँवाने पड़े। इस समाचार से विरोधी पंडितों में एक आतंक छा गया और वहाँ का राजा यतिराज के चरणों में गिरकर पंडितों के कुकृत्य के लिए क्षमा याचना की। यतिराज तो दया के सागर थे ही। उन्होंने सबको क्षमा कर दिया और उन्हें उपदेश किया। राजा और पंडित यतिराज से दीक्षित हुए और श्री वैष्णव मत में आ मिले।

उनके कश्मीर विजय के समाचार से यतिराज और श्री वैष्णव सम्प्रदाय की चर्चा सम्पूर्ण देश में होने लगी। भगवती शारदा की उन्होंने पूजा-अर्चना की और फिर दक्षिण के लिये लौट पड़े। श्रीरंगम् लौटने के पूर्व वे श्री जगन्नाथ जी के दर्शन के लिये पुरी गये। जगन्नाथ जी की जिस विधि से पूजा होती थी, उसमें यतिराज कुछ परिवर्तन करना चाहते थे। अतः उन्होंने पंचरात्र विधान के अनुसार पूजा करने की बात वहां के पुजारियों से कही। किन्तु पुजारी लोग इससे सहमत नहीं हुए। वे स्मार्त मत के अनुसार भगवान् की पूजा करते थे। लगता है, स्वयं जगन्नाथ जी अपनी पूजा विधि में किसी परिवर्तन के

पक्ष में नहीं थे। क्योंकि उस रात विश्राम करते समय उन्होंने यतिराज को वहाँ से सौ योजन की दूरी पर रखवा दिया। सबेरे नींद खुलने पर सहसा वे जान ही नहीं सके कि कहाँ चले आये थे।

इसे भगवान् की माया समझकर वे कुछ समय वहीं रहे। वह कूर्म क्षेत्र था। कुछ समय बाद उनके शिष्य भी वहीं आ गये। कई महीनों तक वहाँ रहने के बाद वे सिंहाचल गये। वहाँ कुछ दिन रुकने के बाद वेंकटाचल गये। उन दिनों वहाँ शैव और वैष्णवों के बीच शास्त्रार्थ चल रहा था। श्री यतिराज के पहुँच जाने से उस शास्त्रार्थ में जैसे शक्ति का संचार हो गया हो। श्री रामानुजाचार्य ने बहुत ही संतुलित, किन्तु दृढ़ रूप से अपने पक्ष का समर्थन किया। परिणामस्वरूप शैव लोग पराजित हो गये और श्री वैष्णव मत को स्वीकार कर लिया।

इस प्रकार श्री रामानुजाचार्य की दिग्विजय यात्रा पूर्णरूप से सफल रही। वेंकटाचल से वे कांचीपुरम् गये और फिर वहाँ से श्रीरंगम् गये। लम्बी अवधि की अनुपस्थिति के बाद श्रीरंगम् पहुँचने पर उनका अभूतपूर्व स्वागत हुआ। श्रीवैष्णव मत के प्रचार के लिए किये गये उनके यत्नों की कहानी श्रीरंग क्षेत्र में उनके यहाँ पहुँचने के पूर्व ही पहुँच चुकी थी। इसलिए उनके स्वागत के लिए अपार वैष्णव जन समूह श्रीरंग क्षेत्र में पहले से ही एकत्रित हो गया था।

भक्त की भावना सदा सम रहती है। अतः यतिराज को अपने स्वागत-सत्कार से उतनी खुशी नहीं थी, जितनी वैष्णव मत के प्रचार-प्रसार से। श्री यमुनाचार्य के मृत शरीर के सामने किये गये उनके दो वचन अब तक पूरे हो चुके थे। इसलिए उनकी बड़ी प्रसन्नता थी।

●

राष्ट्रीय एकता के प्रतीक

श्री रामानुजाचार्य के वैष्णव मत के संस्थापक होने तथा उसके प्रसार में सतत प्रयत्नशील रहने के कारण उन्हें रूढ़िवादी अथवा धर्मान्ध होने की बात कही जा सकती है। लेकिन जो लोग उनके जीवन चरित्र अथवा उनके सिद्धान्तों से परिचित हैं, उनकी दृष्टि में वे उच्चकोटि के समाज सुधारक एवं प्रगतिशील व्यक्ति थे। उनके जन्म तथा अवसान के लगभग एक हजार वर्ष बाद आज जिस उच्च स्वर में हम अछूतोद्धार, हरिजन मन्दिर प्रवेश या महिलाओं के सामाजिक उत्थान की बातें करते हैं, इन सबको बहुत पहले ही उन्होंने क्रिया रूप दिया था। आज की तुलना में वह युग निश्चय ही अधिक कट्टरवादिता अथवा धर्मान्धिता का था। अछूतों या हरिजनों के मन्दिर प्रवेश की चर्चा उस समय एक प्रकार से सामाजिक विद्रोह समझा जाता था। ऐसे विकट युग में रामानुजाचार्य ने मेलकोट के मन्दिर में हरिजन प्रवेश कराने में सफलता प्राप्त की थी। यही नहीं, वे अपने अछूत शिष्यों के घर जाते थे और उन्हें आगे बढ़ने की प्रेरणा देते थे।

वे कहते थे—"विचार-शुद्धि से कर्म-शुद्धि होती है। दूसरों के दोष मत देखो। पूर्ण कोई भी नहीं है और दूसरों की त्रुटियों की चर्चा करने योग्य स्थिति किसी की नहीं है। अच्छेपन की पहचान है, दूसरों की सेवा करना, जिसका अर्थ है—सक्रिय सहायता।"

उनके असंख्य शिष्य थे—जो विद्वत्ता में बहुत बढ़े-चढ़े थे। उनमें विशेषता यह थी कि वे सभी जातियों के थे और रामानुजाचार्य ने उनमें सहज ही ऐक्य की भावना भर दी थी। वास्तव में रामानुजाचार्य जाति भेद से ही नहीं, वरन् धर्म-भेद के भी ऊपर थे। यदि ऐसा न होता तो मेलकोट के मन्दिर में विष्णु प्रतिमा के चरणों में एक मुसलमान शाहजादी की तस्वीर बनवा कर कैसे लगवाते? शाहजादी विष्णु भक्त थी। विष्णु का भक्त हिन्दू है अथवा मुसलमान उनके लिए यह विचारणीय प्रश्न नहीं था—उनके सामने प्रश्न तो केवल भक्ति का था। इसीलिए तो चौथे वर्ण में जन्म धारण करने वाले महात्मा श्री कांचीपूर्ण का चरण स्पर्श तथा उनका उच्छिष्ट प्रसाद ग्रहण करने के लिए वे सदा-सर्वदा प्रयत्नशील रहते थे।

वे कहते भी थे कि केवल जन्म के ही आधार पर आदमी बड़ा नहीं हो सकता। अपने कर्मों के माध्यम से ही आदमी बड़ा या छोटा होता है। साथ ही जाति प्रथा का ऐसे लोगों के बीच कोई स्थान नहीं है, जो आध्यात्मिक दृष्टि से ऊँचे उठ चुके हैं।

महात्मा गौतम बुद्ध ने तो बहुत समय तक महिलाओं को संघ में प्रवेश की अनुमति नहीं दी थी। अपने प्रधान शिष्य आनन्द के बार-बार आग्रह करने पर अनिच्छापूर्वक वे महिलाओं को संघ में लेने पर सहमत हुए थे और यह कहते हुए कि—"आनन्द, तुम्हारे अत्यधिक आग्रह के कारण संघ में महिलाओं के प्रवेश की अनुमति दे रहा हूँ। लेकिन मुझे ऐसा लगता है कि इससे बौद्ध धर्म की आयु आधी हो रह जायगी!"

भगवान् शंकराचार्य तो महिला समाज से बहुत दूर थे। वे यह तो मानते थे कि—"जिस घर में स्त्री प्रतिष्ठित होती है, उस घर में लक्ष्मी निवास करती है।" किन्तु सामाजिक कार्यों में वे स्त्रियों के पक्ष का समर्थन नहीं करते थे। लेकिन रामानुजाचार्य का मत इन सब से भिन्न था। वे स्त्रियों को दीक्षित करते थे और गृहस्थ दम्पति की सेवा स्वीकार करते थे। पूर्ण प्रतिष्ठा के साथ वे पुरुषों और महिलाओं को समान रूप से भगवत आराधना का अधिकारी मानते थे। श्री रंगजी के मन्दिर में स्त्री-पुरुष सबको पूजा का समान अधिकार था।

वास्तव में श्री वैष्णव धर्म के उद्देश्य प्रारम्भ से ही बहुत व्यापक और समदर्शी रहे हैं। पंचशील की सम्पूर्ण मर्यादायें इस मत की सीमाओं से सुरक्षित हैं। भगवान् रामानुजाचार्य अपने भक्तों से कहा करते थे—"अपने कर्त्तव्य का पालन सांसारिक लाभ की दृष्टि से नहीं, वरन् परमात्मा की सेवा मानकर किया जाना चाहिए।"

इसी से प्रभावित होकर तो बाबा नरसी मेहता ने गाया था—"वैष्णव जन तो तेने कहिए, जे पीर पराई जाणे रे।"

श्रीवैष्णव मत का आधारभूत सिद्धान्त जन मानस की सेवा करना, उसे परितुष्ट करना है। जाति-जाति में भेद करना, ऊँच-नीच अथवा स्त्री-पुरुष के विभेद से अनावश्यक समस्यायें उत्पन्न करना नहीं है। यह मत प्रेम और आपसी सद्भावना पर आधारित है। राष्ट्र और जन-जाति का कल्याण इसी में है, इसे रामानुजाचार्य जानते थे। अतः उन्होंने भेद रहित एक ऐसे

समाज की कल्पना की थी, जिसकी आधारशिला प्रेम तथा सद्भावना पर आधारित हो।

वे उच्चकोटि के सन्त थे और अपने जीवन में उन्होंने उन सभी आदर्शों एवं सिद्धान्तों का निष्ठापूर्वक पालन किया, जिनकी स्थापना, मानव समाज की उन्नति और सद्गति के लिए आवश्यक थी। इसीलिए वे बहुत लोकप्रिय थे। साथ ही वे भक्तिमार्गी थे। यही सन्तों एवं महात्माओं का मार्ग है। अतः सीधा और सरल होना इसका स्वाभाविक गुण है। भक्ति या भक्त की व्यवस्था में हम कभी-कभी संकुचित दृष्टिकोण अपना कर सम्बन्धित विषय के साथ बहुत अन्याय कर देते हैं और इसीलिए सम्प्रदाय विशेष अथवा मत-मतान्तर का झगड़ा प्रारम्भ हो जाता है। रामानुजाचार्य ने ऐसा अवसर कभी उपस्थित नहीं होने दिया। एक बार जैन समर्थक एक राजा ने उन्हें मार डालने का षड्यन्त्र किया था, किन्तु उसे सफलता नहीं मिली। लेकिन रामानुजाचार्य ने इस पर कोई ध्यान नहीं दिया। उनके हृदय में असीम दया की भावना थी। करुणा, क्षमा और दया को श्रीवैष्णवों का गुण बताते हुए, उन्होंने अपने सभी अनुयायियों से इन्हें स्वीकार करके अपने जीवन में क्रिया रूप देने का सदा उपदेश किया।

●

महाप्रयाण

श्री रामानुजाचार्य को एक सौ बीस वर्ष की आयु प्राप्त हुई थी। बीस वर्ष की आयु में वे सन्यासी हुए थे। इस प्रकार पूरे एक सौ वर्ष वे संन्यासी रूप में जीवित रहे। उनके देहावसान के पहले ही उनके प्रायः सभी प्रमुख शिष्यों की मृत्यु हो चुकी थी। एक-एक करके सब साथ छोड़ते जा रहे थे। लेकिन अपने प्रधान शिष्य कुरेश की मृत्यु से उनके मन को बहुत आघात लगा। "यह शरीर नाशवान है"—इसे बखूबी जानते हुए भी कुरेश के स्वर्गवासी होने पर रामानुजाचार्य शोक-विह्वल हो उठे। उन्होंने कुरेश के बड़े पुत्र को अपना शिष्य बनाकर उसे पाराशर-भट्टर नाम देकर अपनी तीसरी प्रतिज्ञा की पूर्ति की थी। मृत्यु-शय्या पर पड़े कुरेश को इससे बड़ा सन्तोष मिला। वे आनन्दमग्न हो गये। इस नैसर्गिक आनन्द के सामने मृत्यु का कोई कष्ट उन्हें नहीं हुआ। तदन्तर गुरुदेव से बातें करते-करते उन्होंने अपने प्राण छोड़े थे।

कुरेश की मृत्यु, स्वयं रामानुजाचार्य के लिए अन्त समय सन्निकट होने की संदेशवाहिका थी। वे समझ गये कि अब उनका भी अन्त निकट था। यों उन्होंने कोई कार्य छोड़ा न था, फिर भी अन्त समीप जानकर सब कार्यों का लेखा-जोखा जैसे सबके लिए आवश्यक हो जाता है। इसी बीच कुछ और साथी-सहयोगी भी चल बसे। इनमें कुरेश की पत्नी आण्डाल भी थी। यह सब देखकर स्वामीजी अत्यधिक शान्त और प्रकृतिस्थ हो गये। एक तो बुढ़ापे के कारण भी शरीर में पहले जैसी शक्ति न थी, और इस पर एक-एक करके साथियों का संग छोड़कर, उनके महाप्रयाण के कारण स्वामीजी के मन को बहुत धक्का लगा। इसी कारण वे भीतर से टूट से गये। उनकी वाणी में पहले जैसा वह गर्जन न रहा, जो विरोधियों के दिलों में पराजय की भावना पैदा कर, उन्हें श्रीवैष्णव मत स्वीकार कर देने को विवश कर देता था।

जब शिष्यों को यह ज्ञात हुआ तो दूर-दूर से हजारों की संख्या में लोग अपने परम पूज्य गुरुदेव का अन्त जानकर उनके अन्तिम दर्शनों के लिए पहुँचने लगे। उन दिनों बहुत ही नपे-तुले शब्दों में वे श्रीवैष्णव धर्म के आदर्शों की व्याख्या करते और शिष्यों को उन्हें मानने के लिए प्रेरणा देते थे। इस शरीर

का धर्म ही है काल कवलित होना । जो जन्म लेता है, वह मरता है, यह ध्रुव सत्य है । इस परम्परा का पालन करते हुए रामानुजाचार्य ने भी शरीर त्याग किया । लेकिन उन्होंने केवल शारीरिक लीला समाप्त की—वे मरे नहीं । राम-कृष्ण क्या कभी मरेंगे ? ये विभूतियाँ विशेष प्रयोजनों से शरीर धारण करती हैं, और प्रयोजन समाप्त कर शरीर त्याग देती हैं । यही स्थिति रामानुजाचार्य की भी थी । श्रीवैष्णव मत के प्रतिष्ठान, प्रसार और प्रचार के लिए उन्होंने अवतार लिया था । अपना कार्य समाप्त कर वे इस लोक से विदा हो गये । शारीरिक रूप से न सही, अपने विपुल कार्यों द्वारा वे आज भी हमारे लिए जीवित हैं और सदा-सर्वदा जीवित रहेंगे ।

जिस युग में रामानुजाचार्य का अवतरण हुआ था, वह आज की तरह राजनीतिक अथवा आर्थिक संकटों से विपद्ग्रस्त नहीं था । राष्ट्रीय दृष्टि से देश में आज की तरह एकता नहीं थी, क्योंकि अनेक राज्यों में विभाजित देश को एक सूत्र में रखने के लिए आज जैसी कोई केन्द्रीय या संघीय व्यवस्था नहीं थी । लेकिन प्राप्त प्रमाणों से ऐसा लगता है कि उन दिनों आज की अपेक्षा लोगों में अधिक एकता की भावना थी और इस एकता की भावना के सूत्र यही धर्माचार्य थे । विभिन्न मत के धर्माचार्यों में जो मतभेद होते, उन्हें राज्य स्तर पर शास्त्रार्थ द्वारा तय कर लिया जाता था । इन शास्त्रार्थों में जो विज्ञों, पंडितों एवं जनता को अपने पांडित्य से प्रभावित कर लेता था, वही प्रमुख हो जाता था ।

परम पूज्य शंकराचार्य के काल में भी यही हुआ था । उनके आविर्भाव के पूर्व अनेक मत-मतान्तरों के कारण यहां के निवासियों में आपसी वैर-भाव प्रवेश कर गया था । यही नहीं, इससे लूट-खसोट की भावना भी पैदा हो गई थी । तीर्थ स्थानों की पवित्रता कुछ व्यक्तियों के अपवित्र विचार और प्रवृत्ति के कारण बहुत दूषित हो गई थी । क्योंकि मत-मतान्तरों के झगड़ों में ठगों की बन आई थी और भोली-भाली जनता को वे खूब लूटते थे । परिणामस्वरूप धर्म-कर्म से लोगों का विश्वास उठने लगा था । जो अच्छे सिद्धान्तों की धार्मिक एवं सामाजिक संस्थायें थीं, उन पर युग और काल का बुरा प्रभाव पड़ गया था और इस कारण उनके कर्ता-धर्ता प्रायः अविवेक और संस्कारहीन हो गये थे । भविष्य एकदम अंधकारपूर्ण हो गया था । ऐसे समय में भगवान् शंकराचार्य का आविर्भाव मानों उस अंधकार को समाप्त कर, इस भूमि को आलोक प्रदान करने तथा जन मानस को उचित मार्ग-दर्शन देने के लिए हुआ था ।

श्री रामानुज के जन्म के पूर्व की भी स्थिति बहुत अच्छी नहीं कही जा सकती थी। देश धन-धान्य से पूर्ण था। किन्तु किसी संगठित सैन्य शक्ति के अभाव में लूट-पाट होते रहते थे। सब मिलाकर धार्मिक स्थिति भी ठीक नहीं थी। भगवान् शंकराचार्य का जीवन बहुत ही अल्पकालीन था। धार्मिक और सामाजिक जीवन को स्वस्थ करने के लिए उन्होंने जो कार्य किये, वे तो निश्चय ही स्तुत्य थे, किन्तु उनके उत्तराधिकारियों में वह जोश और उमंग नहीं थी, जितनी होनी चाहिये थी। परिणाम यह हुआ कि शंकराचार्य की मृत्यु के कुछ ही काल के बाद सामाजिक कुरीतियाँ पुनः सिर उठाने लगीं।

साहित्यिक एवं ऐतिहासिक कृतियों से ऐसा प्रतीत होता है कि रामानुज के जन्म के समय तक देश की सामाजिक एवं धार्मिक स्थिति प्रायः उसी प्रकार की हो गई थी, जैसी शंकराचार्य के जीवन के पूर्व में थी। शंकराचार्य को तो अपने मत के प्रतिपादन के लिए बहुत कम समय मिला था, किन्तु रामानुजाचार्य को पर्याप्त समय मिला। इसका परिणाम यह हुआ कि श्री रामानुजाचार्य ने अपने प्रत्येक कार्य तथा सिद्धान्त का सम्पादन बहुत सफलतापूर्वक किया और उन्होंने श्रीवैष्णव धर्म की जड़ें पाताल तक पहुँचा दीं।

उनका व्यक्तित्व बहुत आकर्षक एवं विशाल था। कहा जाता है कि कांचीपुरम् के किसी उत्सव मे उन्हें देखते ही श्री यमुनाचार्य ने जान लिया था कि उनका उत्तराधिकारी रामानुज ही होंगे। यही नहीं, अपने मृदु स्वभाव और सरस वाणी के लिए भी वे विख्यात थे। इन सबका मिला-जुला प्रभाव यह था कि उनके विरोधियों की संख्या नगण्य थी।

श्री रामानुजाचार्य ने अकेले जितना बड़ा कार्य किया, उतना बड़ा कार्य असंख्य सैन्यशक्तियुक्त अथवा सत्तासम्पन्न कोई शासक भी नहीं कर सकता था। उनकी दूसरी विशेषता यह है कि उन्होने यह कार्य संन्यासी रूप में किया। एक तिनके के बल का भी प्रयोग किये बिना श्री वैष्णव मत का साम्राज्य उन्होंने स्थापित कर दिया। सैन्य शक्ति के आधार पर स्थापित किये साम्राज्य तो समय पर नष्ट-भ्रष्ट भी हो जाते हैं. किन्तु श्री रामानुजाचार्य द्वारा स्थापित यह साम्राज्य आज इतने दिनों के बाद भी शाश्वतगति से समय के साथ कदम-से-कदम मिलाते प्रगति पथ पर है।

●

युग पर रामानुज का प्रभाव

हम क्या करते हैं, यह उतना महत्वपूर्ण प्रश्न नहीं, जितना कि महत्वपूर्ण यह है कि हमारे कार्य का परिणाम क्या होता है। इसी सिद्धान्त को अपने सामने रखकर हम किसी का लेखा-जोखा तैयार करते हैं। किसी साहित्यकार के साहित्य का समाज और काल पर क्या प्रभाव पड़ता है, किसी कलाकार की कलाकृति किस सीमा तक उसके प्रशंसकों के मन को छू पाती है, कोई समाज सुधारक किस हद तक जन मानस में स्थान पाता है, अथवा कोई धर्माचार्य अपने मतावलम्बियों के हृदय पटल को किस सीमा तक प्रभावित करने में सफल हुआ है, इसी आधार पर इनकी सफलता—विफलता का माप-दण्ड स्थापित किया जा सकता है।

साधारणतः हम किसी सिद्धान्त को दो रूपों में ग्रहण करते हैं—स्थायी अथवा अस्थायी रूप में। कहने को तो यह हमारी स्वेच्छा है, किन्तु वास्तव में यही अन्तरात्मा का कार्य है। यदि कोई सिद्धान्त या व्याख्या हम सुनना नहीं चाहते अथवा केवल शिष्टाचारवश सुनते हैं, तो उसका प्रभाव हमारे मन पर नहीं हो ा। लेकिन कुछ ऐसे सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक अथवा आध्यात्मिक तत्व होते हैं, जिन्हें हम ग्रहण करना चाहते हैं और उन्हें ग्रहण करने के लिए आतुर रहते हैं। ऐसी ही स्थिति में स्थायी प्रभाव का प्रश्न उठता है। यदि कोई सिद्धान्त या मत हमारे मन की सारी शंकाओं को समाप्त कर, हमें आलोक देता है, हमें अपनी ओर आत्र षित करता है, इसे ही स्थायी प्रभाव कहते हैं। किसी मत या सिद्धांत की सफक्षता उसके अन्दर निहित जनकल्याण की भावना और उसके भाष्यकार के लोक कल्याणकारी विचारों पर आधारित होती है।

श्रीवैष्णव मत जन-कल्याण की भावना तथा व्यक्ति की सद्‌गति की इच्छा से ओतप्रोत है। यह 'गीता' की तरह ज्ञानमार्गी नहीं, 'रामायण' की तरह भक्तिमार्गी है। अद्वैतवाद की तरह तर्क का सहारा नहीं लेना पड़ता। भक्तिमार्ग बहुत ही सीधा और सरल मार्ग है। कलिकाल में व्यक्तियों का जीवन संक्रान्ति एवं संघर्षों से परिपूर्ण होगा, उन्हें अपनी रोटी और वस्त्र तथा जीवन के लिए आवश्यक अन्य उपकरण जुटाने में ही लगा रहना पड़ेगा, तथा विज्ञान की चकाचौंध में धार्मिक एवं सांस्कृतिक मर्यादाओं की उपेक्षा होने लगेगी, सम्भवतः

इनका पूर्वज्ञान हमारे कालदर्शी महात्माओं को हो गया था। शायद इसी कारण कलिकाल के लिए पूजाविधि में कटौती की गई। यही नहीं, ज्ञान के कठिन मार्ग के स्थान पर भक्ति के सरल मार्ग का निरूपण हुआ।

श्री रामानुजाचार्य कालदर्शी महात्मा ही नहीं, अवतारी महापुरुष थे। आगे आने वाला समय कैसा है, इसका पूर्वज्ञान उन्हें था। इसीलिए उन्होंने भक्तिमार्ग को अपनाया। 'ज्ञान आवश्यक है, इसे प्राप्त करना चाहिए। लेकिन भक्ति परमावश्यक है, इसे ग्रहण करना चाहिए', यही उनका उपदेश था। भक्ति किसी जाति अथवा वर्ग विशेष की धरोहर नहीं है। यह गंगा की पावन-पुनीत धारा के समान है। अपनी इच्छा और श्रद्धा के अनुसार सभी इसे ग्रहण करने के अधिकारी हैं।

श्री रामानुजाचार्य ने जाति-पाँति के बंधन को भी नहीं माना। उनके अनुसार भगवान् की पूजा के सभी अधिकारी हैं। स्त्री-पुरुष में भी कोई विभेद नहीं माना। विनम्रतापूर्वक भगवान् की पूजा करना तथा अहंकार रहित जन-कल्याण के निमित्त कार्यरत रहना—यही मानव धर्म है, यही श्रीवैष्णव धर्म है। श्री रामानुजाचार्य ने बड़े सरल ढंग से इसे बताया।

श्री रामानुजाचार्य की बात जन मानस को भा गई। बहुत बड़ी संख्या में लोगों ने उन्हें अपना आचार्य माना और उनके साथ हो गये। केवल धार्मिक कहलाने के लिये जो लोग गेरुआ वस्त्र धारण किये हुए थे, लेकिन वस्तुतः धर्म के स्वरूप को जानते तक भी नहीं थे, उन्हें रामानुजाचार्य से मार्गदर्शन मिला। ज्ञान और भक्ति के बीच भूले-भटके लोगों को स्वामी जी के सीधे और सरल उपदेशों से परम संतोष मिला।

आज लगभग एक हजार वर्ष के बाद भी यह बड़े सन्तोष के साथ स्वीकार किया जा सकता है कि श्री वैष्णव मत का प्रभाव तब से अब तक समाज के ऊपर बढ़ता ही रहा है। समय-समय पर देश के विभिन्न प्रदेशों में महात्माओं ने जन्म लेकर अपनी वाणी द्वारा श्रीवैष्णव मत को और अधिक लोक-प्रियता प्रदान की है। उदाहरण के लिए श्री चैतन्य महाप्रभु, बाबा नरहरि दास आदि का नाम लिया जा सकता है। इन दोनों महात्माओं ने अपने कार्य और कर्म द्वारा भूली-भटकी मानवता का पथ आलोकित कर उनकी सद्गति का मार्ग प्रशस्त किया। नरसी मेहता ने भावविह्वल होकर गाया था—

वैष्णव जन तो तेने कहिये, जे पीर पराई जाणे रे;
परदुखे उपकार करे तोये, मन अभिमान न आणे रे।
सकल लोकमा सहुने बंदे, निन्दा न करे केनी रे;
वाच काछ मन निश्चल राखे, धन धन जननी तेनी रे।

इस युग के सबसे महान् महापुरुष महामानव महात्मा गाँधी अपने कर्म द्वारा श्रीवैष्णव मतावलम्बी थे। यों किसी विशेष मत अथवा सम्प्रदाय के साथ उनका लगाव नहीं था, किन्तु अपने सिद्धान्तों एवं आदर्शों द्वारा उन्हें निश्चय ही श्रीवैष्णव मत का पूजक मानना चाहिये। वे बड़ी लगन एवं निष्ठापूर्वक नरसी मेहता का उपर्युक्त भजन अपनी प्रार्थना सभा में गाया करते थे।

इस लम्बे समय के धार्मिक एवं सामाजिक पृष्ठभूमि के सिंहावलोकन से यह स्पष्ट हो जाता है कि श्री रामानुजाचार्य केवल धर्माचार्य ही नहीं, वरन् अपने युग के महान् समाज सुधारक भी थे। अपने उद्देश्य के प्रति सच्चे और निष्ठावान् होने के कारण सरलता उनकी स्वाभाविक प्रकृति थी और इसी सरलता द्वारा उन्होंने अत्यन्त प्रभावकारी एवं चमत्कारपूर्ण कार्य किया।

वल्लभाचार्य

जन्म - संवत् १५३६
अवसान—संवत् १५८७

सात्विका भगवद्भक्ता ये मुक्तिवधिकारिणः ।
भवान्तसम्भवाद् दैवात् तेषामर्थे निरूप्यते ।।
—वल्लभाचार्य

आचार्य परिवार

भारत की भूमि पर समय-समय पर अवतार लेकर भगवान् ने यहां की धरती को अत्यधिक पवित्रता एवं गरिमा प्रदान की है। भारतवर्ष विश्व का प्रथम देश है, जहां संस्कृति और सभ्यता ने जन्म लिया था। आज से लगभग पांच हजार वर्षों से भी अधिक पूर्व भगवान् श्रीकृष्ण ने कुरुक्षेत्र में गीता का उपदेश दिया था। इससे भी पूर्व महर्षि वाल्मीकि ने रामायण की रचना द्वारा मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् श्रीराम के यशपूर्ण जीवन और उनके अलौकिक कार्यों का वर्णन किया था। विश्व में ऐसा कोई भू-भाग अथवा देश नहीं है, जहां सभ्यता अथवा संस्कृति का जन्म हमारे देश से पहले हुआ हो।

भारत भूमि की पवित्रता तथा यहां के ऋषि-मुनियों की यश कथाओं से हमारे पुराणों के भण्डार भरे पड़े हैं। कहते हैं कि यूनान के बादशाह महान् सिकन्दर ने दिग्विजय की इच्छा से भारत पर चढ़ाई के लिए प्रस्थान करने की पूर्व संन्ध्या में जब अपने गुरु का आशीर्वाद प्राप्त करने उनके यहां गया, तब बातों-ही-बातों में उसने उनसे पूछा कि—"भारत से लौटने पर आपके लिए क्या उपहार लाऊँ।"

गुरु जी चौथेपन में पहुँच चुके थे। उन्हें किसी लौकिक वस्तु की आवश्यकता नहीं थी। अतः उन्होंने कहा—"राजन्! आपके राज्य में किसी भौतिक पदार्थ की कमी नहीं है। जन साधारण तक को सभी आवश्यक वस्तुयें सहज ही सुलभ है। मेरे ऊपर तो आपकी विशेष कृपा है। अतः मुझे कोई सुख-साधन की वस्तु नहीं चाहिए। हां, मैंने भारत की धरती और गंगा जल की बड़ी बड़ाई सुनी है। यदि सम्भव हो राजन्! तो उस पवित्र भूमि की थोड़ी मिट्टी और गंगाजी का थोड़ा जल ले आना न भूलियेगा।"

भारत भूमि की पवित्रता और यश गान में बड़े-बड़े ग्रन्थ तैयार हो चुके हैं। ऋषियों, महात्माओं तथा भगवान् ने स्वय भारत भूमि की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। तब भला, इस धरती पर जन्म लेने के लिए कौन आतुर न होगा? वैकुण्ठधाम छोड़कर भगवान् बार-बार इस धरती पर आते हैं - कभी राम के रूप में कभी कृष्ण के रूप में। कालान्तर में जब-जब भगवान् का अंशावतार हुआ,

तो उन्होंने बड़े महात्मा एवं सन्तों के रूप में अवतार ग्रहण किया। महाप्रभु वल्लभाचार्य इसी प्रकार के अवतारी महात्मा थे।

यह संयोग की बात है कि हमारे धर्म के चारों प्रमुख आचार्यों का प्रादुर्भाव दक्षिण भारत में हुआ था और चारों का कर्तव्य-क्षेत्र मुख्य रूप से उत्तर भारत ही रहा। शंकराचार्य का जन्म केरल में, रामानुजाचार्य का तमिलनाडु में, मध्वाचार्य कन्नड़ (मैसूर) तथा वल्लभाचार्य मध्य प्रदेश के रायपुर शहर के पास चम्पारण्य में अवतरित हुए थे। वस्तुतः इनके पिता-माता आन्ध्र प्रदेश के कांकरवाड ग्राम के रहने वाले थे और कुछ काल से काशी में रहते थे। मुसलमानों के आक्रमण के भय से इनके पिता अपनी गर्भवती पत्नी को लेकर काशी से दक्षिण को चल पड़े थे। उसी यात्रा में मार्ग में ही वल्लभाचार्य का जन्म हुआ था।

श्री वल्लभाचार्य के प्रपितामह का नाम श्री यज्ञनारायण भट्ट था। ये आन्ध्र प्रदेश के कांकरवाड ग्राम के रहने वाले थे। इनका बहुत ही उच्चकुलीन ब्राह्मण परिवार था। ये सदैव भगवान् की पूजा-अर्चना में लगे रहते और धार्मिक अनुष्ठान करते रहते थे। इन्हें एक स्वप्न हुआ—"भगवान् श्रीकृष्ण की पूजा करो। मनोकामना पूर्ण होगी।" इसके बाद एक तेजपुञ्ज महात्मा आये। उनकी प्रतिभा और तेजस्विता देखकर यज्ञनारायण बहुत प्रभावित हुए। उन महात्मा ने उन्हें भगवान् श्रीकृष्ण की पूजा की विधि बतलाई। सोमयज्ञ के व्रत और पूजन के नियम बतलाये।

तब से श्री यज्ञनारायण भट्ट ने श्रीकृष्ण की पूजा-अचना शुरू की थी। आग में आहुति डालते समय उसकी लपटों से एक दिव्य मूर्ति निकली और 'वर मांगो' कहा। उस मूर्ति को साक्षात् भगवान् विष्णु समझकर उनके कई पीढ़ियों की मनोकामना पूरी हो गई थी। वे वर क्या मांगते? भगवान् के चरणों में साष्टांग लेट गये और उनके नेत्रों से अविरल प्रेमाश्रु बहने लगे। भगवान् विष्णु परम प्रसन्न थे। उन्होंने कहा—"तुम्हारे परिवार में जब पूरे एक सौ सोमयज्ञ पूरे हो जायेंगे, तो मैं अवतार ग्रहण करूँगा। इसलिए सोमयज्ञ की यह परम्परा बन्द न होने पावे।" इतना कहकर भगवान् अन्तर्धान हो गये।

भगवान् के आदेश और प्रेरणा से प्रारम्भ की गई सोमयज्ञ की शृंखला कभी टूटने नहीं पाई। धर्म और धार्मिक अनुष्ठानों में परिवार की रुचि उत्तरोत्तर बढ़ती गई।

श्री यज्ञनारायण भट्ट के बाद उनके पुत्र गंगाधर सोमयाजी भट्ट ने भी

अपने पिता के ही तरह धर्माचरण किया। उनके पुत्र गणपति भट्ट हुए। इन्होंने भी अपने पिता का अनुसरण किया और भगवद्भक्ति के साथ-साथ सोमयज्ञ की परम्परा कायम रखी। श्री गणपति भट्ट के पुत्र श्री बालभट्ट और बालभट्ट के पुत्र लक्ष्मण भट्ट हुए। अपने पूर्व पुरुषों की भाँति ये दोनों भी धर्माचरण करने वाले कर्मनिष्ठ व्यक्ति थे।

श्रीलक्ष्मण भट्ट में विशेष प्रकार की श्रद्धा-भक्ति थी। बालपन से ही वे एकान्तप्रिय थे और युवा अवस्था प्राप्त होने पर उनकी इस प्रवृत्ति में और वृद्धि भी हुई। जब शिक्षा प्राप्त कर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने का अवसर आया, तो उन्होंने इसके लिए अनिच्छा व्यक्त की। उनके गुरु ने उनकी इस विचारधारा को उचित नहीं समझा। अतः गुरु के आदेश से जब वे घर वापस आये, तब उनका विवाह विजयनगर के राज्य पुरोहित श्री सुशर्मा की दो योग्य कन्याओं, सुश्री यल्लमा और इल्लमा के साथ कर दिया गया। कुलीन परिवार में जन्म लेने तथा योग्य पिता की देख-रेख में दीक्षित होने के कारण वे दोनों बहिनें विद्या-बुद्धि में तो प्रवीण थी हीं, गृहकार्य में भी कुशल थी। लक्ष्मी और सरस्वती के समान इन दोनों बहिनों को पत्नी रूप में प्राप्त कर लक्ष्मण भट्ट को परम सन्तोष मिला।

पुत्र वधुओं के आगमन से इनके माता-पिता बहुत प्रसन्न हुए। यों तो पुत्रवधू के घर में प्रवेश होने से सभी माँ-बाप आनन्दित होते हैं, किन्तु लक्ष्मण भट्ट के विवाह से विशेष प्रसन्नता थी। बाल्यकाल से ही वे एकान्तप्रिय थे और युवा अवस्था प्राप्त होने पर घर-गृहस्थी से अपने को मुक्त रखने का उनका ध्येय था। अपने पिता और गुरु के आदेश से उन्होंने गृहस्थाश्रम में प्रवेश करना स्वीकार किया था। आजीवन ब्रह्मचारी बने रहकर भगवद्-भजन करते रहने की उनकी इच्छा जानकर गुरुजी ने श्रीलक्ष्मण भट्ट को आदेश दिया—"सोमयज्ञ पूर्ण करने के उद्देश्य से गृहस्थ धर्म स्वीकार करो और अपने लिए अक्षय कीर्ति अर्जित करो। भगवान् के अवतार का जनक होने का श्रेय और यश तुम्हें ही मिलेगा।"

भगवान् के अवतार का कारण बनने की बात से उन्हें परम आनन्द का अनुभव हुआ। उन्होंने अविलम्ब "जैसी आज्ञा" कहकर गृहस्थ जीवन स्वीकारने की अपनी अनुमति दे दी थी। अतः ऐसी स्थिति और वातावरण में श्री लक्ष्मण भट्ट का विवाह निश्चय ही उनके माता-पिता के लिए विशेष आनन्द और उल्लास का विषय था।

योग्य और सुन्दर पत्नियों को पाकर युवा लक्ष्मण भट्ट का मन भगवान् के प्रति अत्यधिक कृतज्ञ हो उठा। वास्तव में मनुष्य जीवन का सम्पूर्ण तत्व तो गृहस्थ जीवन में ही निहित है और गृहस्थ जीवन की आधारशिला स्त्री होती है। स्त्री यों ही श्रद्धा की वस्तु है, लेकिन जब वह बौद्धिक एवं आध्यात्मिक रूपों से भी स्वस्थ होती है, तो सहज में ही पूजनीया बन जाती है। युवा लक्ष्मण भट्ट को दो ऐसी ही पत्नियां मिली थीं, जिनके प्रति सहज भाव से वे आकृष्ट और प्रभावित थे। इसे भगवान् की कृपा मानकर उन्होंने मन-ही-मन अपनी कृतज्ञता स्वीकारी।

विवाह के कारण श्री लक्ष्मण भट्ट को भगवत्-पूजा में किसी प्रकार की बाधा का सामना नहीं करना पड़ा। वरन् उन्हें उत्साहपूर्वक आगे बढ़ने में योगदान ही मिला। उन्होंने पाँच सोमयज्ञ किये और इस प्रकार उनके परिवार में सौ सोमयज्ञों की श्रृंखला पूर्ण हुई।

श्रीलक्ष्मण भट्ट का मन आनन्द से परिपूर्ण हो गया। उन्हें आत्मिक प्रसन्नता हुई और उनको अपने भीतर एक प्रकाश का भी अनुभव हुआ। यज्ञ की समाप्ति के बाद अवभृथ स्नान के लिए जब परम मनस्वी लक्ष्मण भट्ट नदी तीर पहुँचे, तो उनके साथ हजारों लोग हो लिए। दक्षिण प्रदेश के बहुत से ऐसे धर्मप्रिय लोग, जिन्हें इस परिवार में हो रहे सोमयज्ञ का इतिहास ज्ञात था, इस सौवें सोमयज्ञ में सम्मिलित होने के लिए पहुँच गये थे। इस सम्पूर्ण जन समूह के साथ जब लक्ष्मण भट्ट नदी में स्नान कर रहे थे, उसी समय आकाशवाणी हुई—"वत्स लक्ष्मण! तुमने सौ सोमयज्ञ की पूर्णाहुति करके अपने पिता के प्रपितामह का संकल्प पूरा कर लिया। मैं तुमसे परम तुष्ट हूँ। अपने उस भक्त को दिए हुए वचन और अपने भक्तों के कल्याण के लिए मैं तुम्हारी पत्नी के पुण्य गर्भ से अवतार ग्रहण करूँगा।"

यह दिव्य आकाशवाणी सुनकर लक्ष्मण भट्ट ने आनन्दविह्वल होकर वहीं खड़े-खड़े अपने दोनों हाथ जोड़कर भगवान् को प्रणाम किया। वहां एकत्रित जन समूह को उस दिव्य वाणी को सुनकर परम कौतूहल तथा आश्चर्य हुआ और वे एक-दूसरे को विस्मयपूर्ण दृष्टि से देखने लगे।

●

महाप्रभु का अवतार

कुछ काल बीतने पर श्री लक्ष्मण भट्ट की बड़ी पत्नी यल्लमा देवी ने एक पुत्र को जन्म दिया। उसका नाम रामकृष्ण था। तदन्तर उन्होंने दो पुत्रियों को जन्म दिया। एक का नाम सुभद्रा और दूसरी का सरस्वती था। किन्तु इनमें से कोई अवतारी नहीं था। इससे लक्ष्मण भट्ट को बड़ी निराशा हुई और उनका मन उद्विग्न रहने लगा। वे विचारमग्न हो गये और भविष्य की कल्पना से चिन्तातुर हो उठे। एक दिन यों ही विचार श्रृङ्खला से मन भारी-भारी हो रहा था कि कहीं दूर से आती एक प्रकाश किरण जैसे उनके भीतर प्रवेश करती ज्ञात हुई। उसी समय उन्होंने सोचा कि कुल परम्परा के अनुसार हमें भी श्रीकृष्ण-भक्ति अपनानी चाहिए। देवी इल्लमा ने भी अपने पति का अनुकरण करते हुए भगवान् श्रीकृष्ण की आराधना-पूजा प्रारम्भ कर दी।

इस प्रकार कुछ काल और बीता। श्री लक्ष्मण भट्ट के मन की उद्विग्नता और अशान्ति एकदम जाती रही। उनका चित्त पूर्णरूप से शान्त और स्थिर हो गया था। भगवान् श्रीकृष्ण की पूजा-अर्चना में उनका मन खूब लग रहा था। तभी एक दिन उनका मन काशी जाने को हो गया। अपने गुरु से आज्ञा प्राप्त कर कुछ लोगों के साथ वे काशी आ गये।

काशी आने के पूर्व लक्ष्मण भट्ट रास्ते में थोड़े समय तक प्रयाग में रुके रहे। उन्हें प्रयाग आया सुनकर काशी के एक धनीमानी श्रद्धालु सेठ कृष्णदास उन्हें लिवा लाने के लिए काशी से प्रयाग आये थे।

वह सेठ द्रविड़ देश से आये तीर्थयात्रियों से लक्ष्मण भट्ट के बारे में उनका गुणगान सुन चुका था। उन्हीं तीर्थयात्रियों से सेठ को यह भी ज्ञात हो गया था कि यही महाभाग लक्ष्मण भट्ट भगवान् के अवतार के जनक भी होने वाले हैं। इसलिए बड़ी श्रद्धा और भक्तिपूर्ण आग्रह से वह सेठ उन्हें प्रयाग से काशी अपने साथ लाये और अपने साथ रुकने का निमन्त्रण दिया। अतः लक्ष्मण भट्ट अपने साथियों को हनुमान घाट पर व्यवस्थित कर अपनी पत्नी इल्लमा और परिवार के दूसरे व्यक्तियों के साथ सेठ कृष्णदास की कोठी पर व्यवस्थित हुए।

धार्मिक दृष्टिकोण से वह अत्यन्त कठिन समय था। देश के अधिकांश भाग पर मुसलमान शासकों का प्रभुत्व था और हिन्दू जनता पर अनेक प्रकार के अनाचार होते थे। काशी का पुण्य क्षेत्र जौनपुर के मुसलमान शासकों के हाथ में था। उन दिनों मुस्लिम नेता घूम-घूम कर अपने मजहब को बड़ा और अन्य धर्मों को हेय बताते फिरते थे। धर्म-भीरु हिन्दू जनता पर केवल तरह-तरह से अत्याचार ही नहीं होते थे, वरन् अपना धर्म छोड़कर मुसलमान बनने के लिए उन्हें प्रलोभन भी दिये जाते थे। हिन्दुओं की बारात को मस्जिदों के सामने सवारी से उतर जाना पड़ता था। हिन्दू मन्दिरों को तुड़वा कर उसी सामग्री से वहीं मस्जिद बनवा दी जाती थी। हिन्दुओं को शंख बजाने की अनुमति नहीं थी और उनके अपने धर्म-कर्म सम्बन्धी कार्यों से तरह-तरह से बाधायें पहुँचाई जाती थीं।

ऐसी विकट स्थिति में श्री लक्ष्मण भट्ट अपनी पत्नी देवी इल्लमा समेत काशी पहुँचे और सेठ कृष्णदास की कोठी पर रुके। वे प्रत्येक दिन गंगा-स्नान करते, विश्वनाथ जी के दर्शन करते तथा अपने भक्तों से धर्मचर्चा करते थे। इसी प्रकार की दिनचर्या में कुछ काल व्यतीत हो गया।

एक दिन प्रातःकाल वे ज्योंही स्नान के लिये गंगा तट पर पहुँचे कि वहां लोगों को आपस में यह बातें करते सुना कि दो यवन सेनायें अपनी-अपनी प्रभुता स्थापित करने हेतु दो तरफ से काशी की ओर बढ़ी चली आ रही हैं। यह चर्चा बिजली की तरह सम्पूर्ण शहर में फैल गई थी और नगर-निवासियों का जीवन भविष्य की चिन्ता से त्रस्त होने लगा था।

श्री लक्ष्मण भट्ट की साध्वी पत्नी देवी इल्लमा गर्भावस्था में थीं और कहीं आने-जाने से सर्वथा असमर्थ हो रही थीं। लेकिन जौनपुर के शासकों का आतंक और उनका आपसी संघर्ष इस क्षेत्र के निवासियों के लिए और विशेषकर धार्मिक तथा शान्तिप्रिय नागरिकों के लिए सर्वथा असह्य हो गया था। अतः पत्नी को उस अवस्था में भी साथ लेकर लक्ष्मण भट्ट काशी से द्रविड़ देश के लिए रवाना हो गये। उनके साथ उनके बहुत से भक्त तथा कुछ सेवक भी थे।

मार्ग में सेवकों ने देवी इल्लमा की देखभाल की पूर्ण व्यवस्था रखी थी, किन्तु कठोरगर्भा होने के कारण उन्हें मार्ग में बड़ी असुविधा हुई। अन्त में वे श्रान्त और क्लान्त होकर चम्पारण्य (मध्य प्रदेश में रायपुर जिला) के समीप जंगल में शमी के पेड़ के नीचे बैठ गई। वहीं पर नदी के तीर पर रात्रि बेला

में सन् १४७६ में (संवत् १५३६ वैसाख कृष्णपक्ष एकादसी दिन मंगलवार) महाप्रभु वल्लभाचार्य का अवतरण हुआ।

प्रसवपीड़ा के कारण बालक के जन्म का समय समीप जानकर देवी इल्लमा के मन को यवन आक्रमण का भय और त्रास पीड़ा पहुँचाने लगा। उनका भय इस सीमा तक पहुँच गया कि जब उन्होंने अपने नवजात शिशु को देखा तो वह उन्हें मृत प्रतीत हुआ। डर के मारे वे रो भी नहीं पाईं और बालक को एक हल्का कपड़ा उढ़ाकर एक बड़े पेड़ के खोखले स्थान में रख दिया और स्वयं पास के भद्रापुर गाँव में पहुँच कर पुत्र के जन्म और मृत्यु का विवरण सबको सुना दिया।

लक्ष्मण भट्ट को यह सुनकर बड़ा कष्ट हुआ। किन्तु वे शान्त और स्थिर रहे। उन्होने अपनी पत्नी को सान्त्वना दी और उन्हें विश्राम करने की सलाह देकर स्वयं लेट गये। लेकिन उन्हें नींद आए थोड़ी ही देर हुई थी कि उन्होंने स्वप्नावस्था में देखा कि उनसे साक्षात् भगवान् श्रीकृष्ण कह रहे हों—"वत्स लक्ष्मण! मैं अपने परम प्रिय पुष्टि मार्ग के प्रचार के लिए तथा अपने भक्तों पर अनुग्रह के लिए तुम्हारे पुत्र के रूप में अवतरित हुआ हूँ। तुम्हारी पत्नी इल्लमा देवी डर के मारे मुझे पेड़ की कोटर में डालकर यहाँ चली आई हैं। मैं सुख से लेटा हूँ। काशी में यवनों का आतंक अब शान्त हो चुका है। वे भाग गये हैं और अब वहाँ धर्म-कर्म में कोई बाधा नहीं है। तुम काशी लौट चलो।"

स्वप्न की वह बात उन्होंने तत्काल उठकर अपनी माता जी से कहा। माताजी ने भी ठीक वही स्वप्न देखने की पुष्टि की। अब क्या था। उस सारे समाज में हर्षोल्लास दौड़ गया। लक्ष्मण भट्ट के आदेश से सब लोग काशी वापस आने के लिए लौट पड़े।

दौड़ते भागते जब वे लोग उस पेड़ के पास पहुँचे, जहाँ इल्लमा देवी नवजात शिशु को भयवश मृत समझ कर छोड़ गई थीं, तो वहाँ की छटा देखकर सब लोग विस्मित हो गये। बालक की शोभा तो अतुलनीय थी ही, वहाँ का सारा वातावरण प्रकाशमान हो रहा था। बालक की मन्द-मन्द मुस्कान से वहाँ की शोभा दीप्तमान हो रही थी और ऐसा लगता था कि वह जंगल समस्त ईश्वरीय सम्पदा से परिपूर्ण हो गया है।

देवी इल्लमा ने दौड़कर अपने बच्चे को उठा कर अंक में भर लिया। उसकी शोभा और कान्ति देखकर लक्ष्मण भट्ट का मन अपार आनन्द से भर गया। भगवान् के अवतार का जनक होने के कारण अपने आप उनमें गुरुता आ गई। मन ईश्वर के प्रति कृतज्ञता और संतोष से भर उठा।

आनन्दस्वरूप शिशु वल्लभ को गोद में लिए हुए लक्ष्मण भट्ट अपने संगी-साथियों समेत काशी वापस आ गये। सचमुच उस समय काशी नगरी का वातावरण परम शान्त हो गया था, और हिन्दू-मुसलमानों में किसी प्रकार का विरोध शेष नहीं रह गया था। सेठ कृष्णदास ने अपने सभी अतिथियों का विधिवत् स्वागत किया और सबके लिए उचित स्थान का प्रबन्ध कर, अपने भाग्य को सराहा। सेठ कृष्णदास भगवद्-भक्त थे और बहुत समय से काशी विश्वनाथ का सान्निध्य प्राप्त करते हुए उनका चित्त परम पवित्र हो चुका था। जब दूसरी बार बालक वल्लभ को गोद में धारण किये हुये देवी इल्लमा ने उनके गृह में प्रवेश किया तो उनके निवास का वातावरण तत्काल प्रकाशवान् हो उठा। स्वतः मन में सद्विचार आने लगे और मानसिक उल्लास की कथा मुख-मण्डल से स्वतः प्रकट होने लगी। सेठ कृष्णदास की अनुभवी आँखों से छिपा न रहा कि देवी इल्लमा की कोख पवित्र करने वाला यह शिशु कोई साधारण बालक नहीं; वरन् साक्षात् श्रीकृष्ण भगवान् ने अवतार लिया है। उन्होंने भगवान् को प्रणाम किया और अपने भाग्य को सराहा।

श्रीमद्वल्लभ सम्प्रदाय के लोग वल्लभाचार्य को साक्षात् भगवान् श्रीकृष्ण का मुखावतार अथवा अंशावतार मानते हैं। उनकी धारणा है कि इस पृथ्वी पर जन्म धारण करने के पूर्व वे भगवान् की नित्यलीला में विराजमान होते थे। व्रज की दुर्दशा देखकर तथा पुष्टिमार्ग को लुप्त होने से बचाने के लिए भगवान् श्रीकृष्ण ने अपने मुखस्वरूप वल्लभाचार्य को इस भूतल पर भेजा था। भगवान् के हर कार्य में कारण निहित रहता है। प्रकट जप में सौ सोमयज्ञ की समाप्ति पर पंडित यज्ञनारायण को दिये अपने वचन के अनुसार भगवान् ने उनके वंश में अवतार लिया था, किन्तु अप्रकट रूप से उनके जन्म के अनेक कारण थे।

गीता में भगवान् ने कहा है कि—"जब-जब धर्म का ह्रास होगा और अधर्म की वृद्धि होगी, तब-तब मैं साधु जनों की रक्षा के लिए तथा पापियों का विनाश कर धर्म की पुनर्स्थापन के लिए युग-युग में अवतार लेता रहूँगा।" जो लोग उन दिनों की सामाजिक तथा बौद्धिक स्थितियों से परिचित हैं अथवा जिन्हें इतिहास चक्र का तुलनात्मक ज्ञान हैं, वे यह निश्चय ही स्वीकार करेंगे कि उन दिनों धर्म-अधर्म की दूरी बहुत कम रह गई थी और आदमी का नैतिक स्तर बहुत गिर गया था। भगवान् की उपर्युक्त उद्घोषणा के आधार पर भला उनके अवतार के लिए इससे अच्छा अबसर कब आता?

बाल्यकाल

"हे विप्र-श्रेष्ठ ! आप बड़े भाग्यशाली हैं। आपका यह पुत्र साधारण मनुष्य नहीं है। स्वयं गोपालनन्दन ही आप पर अनुग्रह करके आपके घर अवतरित हुए हैं। हम सब भी इनका दर्शन करके अपने को धन्य और पवित्र समझते हैं।" अपने नवजात शिशु के जन्म-नक्षत्रादि का विचार करने आये हुए ज्योतिषियों की यह बात सुनकर पिता लक्ष्मण भट्ट का हृदय आनन्द से भर उठा। जन्म के ग्यारहवें दिन उस दिव्य बालक का विधिवत् नामकरण हुआ। पिता ने बालक का नाम 'वल्लभ' रखा। वल्लभ का अर्थ प्रिय होता है। बालक सबका प्यारा था, इसलिए वह नाम सबको प्रिय और मनोहर लगा।

छोटे बालकों की मनोहारी लीलायें माता-पिता को आनन्द देती रहती हैं। बालकों की ऐसी लीलायें देखकर वे प्रसन्न होते रहते हैं। बालक वल्लभ तो दिव्य और अवतारी बालक थे। उनकी बाल-लीलायें तो और भी मनोहारिणी और कभी-कभी सबको आश्चर्य में डाल देने वाली होती थीं। जब वे घुटनों के बल चलने लगे थे, तो एक दिन उनकी माताजी उन्हें एक छोटी पलंग में लिटा कर गृह कार्य में व्यस्त हो गईं। बालक मां को कहीं अन्यत्र व्यस्त देखकर पलंग से धीरे-धीरे उतरकर थोड़ी दूर पर रखे मक्खन में से कुछ खा गया और कुछ पृथ्वी पर फेंक दिया। जब मां का ध्यान उधर गया तब वे यह देखकर बहुत नाराज हुई और बालक को डांट-डपट बतलाई। बालक को धो-पोंछकर उन्होंने उसे पलंग पर लिटा दिया और फिर काम में लग गईं। इस बार वे पलंग से उतर कर कुछ दूरी पर रखे पानी के बर्तन में जोर-जोर से मथनी की तरह अपना हाथ चलाने लगे। पानी की आवाज सुनकर माताजी का ध्यान जब उधर गया तो वे नाराज होकर बालक के पास तेजी से आ गईं। वहाँ पहुँचकर जो कुछ उन्होंने देखा, उससे उनकी आँखें खुली-की-खुली रह गईं। उस पानी में नवनीत के गोले तैर रहे थे। उनका मन आश्चर्य से डूबने-उतराने लगा।

पिता का मन हर समय बालक वल्लभ में लगा रहता था। कहीं से आते-जाते वे वल्लभ को एक बार जरूर निहार लेते थे। एक दिन सामने वल्लभ को न देखकर लक्ष्मण भट्ट ने अपनी पत्नी से कहा—बच्चा कहाँ है? जहाँ बालक को छोड़कर वे आई थीं, वहाँ उसे न देखकर उन्हें घबराहट हुई।

हड़बड़ाकर घर में इधर-उधर खोजने लगीं। पिता भी बालक की तलाश में कमरों का कोना-कोना देखने लगे। उन्हें अपने पूजागृह में बालक वल्लभ को पूजा की मुद्रा में ध्यानमग्न बैठा देखकर बहुत आश्चर्य हुआ। उस समय वल्लभ श्रीभागवत चरित का १०वां स्कन्ध खोले ध्यानमग्न थे। माता-पिता को यह देखकर परम आनन्द हुआ—साथ ही आश्चर्य भी। उनके भागवत-प्रेम की यह चर्चा बातों-ही-बातों में घर-घर में फैल गई।

बालसुलभ चंचलता और आमोद-प्रमोद से वल्लभ अपने माता-पिता का मन सदा प्रफुल्लित रखते थे। भगवत् स्वरूप बालक को पुत्र रूप में प्राप्त कर माता-पिता परम प्रसन्न और सन्तुष्ट थे। यों तो रोज की बाल-लीलाओं से माता-पिता आनन्दित होते रहते थे, किन्तु कभी-कभी की घटनाओं से सचमुच वे आश्चर्य में पड़ जाते थे। वास्तव में अधिक स्नेह और ममता के कारण वे यह भूल जाते थे कि दिव्य बालक वल्लभ उनके पुत्र के अतिरिक्त भी कुछ और थे। इसलिए कभी-कभी वल्लभ जी इसका अनुभव करा दिया करते थे।

श्री लक्ष्मण भट्ट ने एक गाय पाल रखी थी। वे गाय की खूब सेवा करते थे। अचानक एक दिन गाय बीमार पड़ गई और हाथ-पैर पटकने लगी। भट्ट महोदय ने सेठ जी के सेवकों के सहयोग से गाय का हर सम्भव उपचार करवाया, किन्तु कुछ कारगर नहीं हुआ। थोड़े समय की बीमारी के बाद गाय मर गई। भट्ट परिवार में गाय के मरने के कारण एक प्रकार की विशेष उदासी छा गई। लक्ष्मण भट्ट और उनकी पत्नी बहुत दुखी और उदास हो गये। माँ-बाप की यह स्थिति देखकर वल्लभ धीरे-धीरे मरी पड़ी उस गाय के पास जाकर उसके सिर पर अपने नन्हें-नन्हें हाथ फेरने लगे। उन दिव्य और अलौकिक हाथों का स्पर्श पाकर गाय ने अपने मूंदे नेत्र खोल दिये और एकदम ऐसे उठ बैठी, जैसे कोई सो कर उठा हो। मृत गाय को जीवित अवस्था में देखकर समस्त परिवार में हर्ष और प्रसन्नता की लहर दौड़ गई। साथ ही यह घटना बिजली की भाँति सारे नगर में व्याप्त हो गई।

यह अलौकिक घटना थी। सहसा कोई इस पर विश्वास नहीं कर सकता। लेकिन इसे अपनी आँखों के सामने घटित देखकर लक्ष्मण भट्ट तथा उनकी पत्नी देवी इल्लमा को बालक वल्लभ के अवतारी होने में जो भी सन्देह रहा होगा, सब समाप्त हो गया। जब सेठजी को इसकी जानकारी हुई तो वे नंगे पाँव दौड़े आकर अपना माथा बालक वल्लभ के चरणों में रख दिया। नगर के विभिन्न भागों से बालक के दर्शन के लिए आने वाले लोगों का ताँता बँध गया। लेकिन

बालक के लिए इस घटना का कोई महत्व नहीं था। वह सामान्य रूप से रहता, खेलता और व्यवहार करता था।

वल्लभ जब सात वर्ष के हो गये, तो लक्ष्मण भट्ट के मन में उनके उपनयन संस्कार की बात आई। उन्होंने अपने गांव (आन्ध्र-प्रदेश) में जाकर अपने पुत्र का जनेऊ करना तय किया। इस बात की सूचना जब सेठजी को लगी, तो उन्होंने अपने अनुनय-विनय से काशी में ही जनेऊ करने के लिए लक्ष्मण भट्ट को तैयार कर लिया। लक्ष्मण भट्ट ने विधिवत् और उत्साहपूर्वक वल्लभ का जनेऊ संस्कार काशी में किया। काशी के प्रमुख विद्वान् तथा ज्योतिषाचार्य उस समय उपस्थित थे।

इसके बाद ही विधिवत् उनकी पढ़ाई प्रारम्भ हुई। यों जब वल्लभ चार वर्ष के हुए, तभी से उनके पिता उन्हें अक्षर ज्ञान कराने लगे थे, किन्तु उनके पाठशाला जाने की व्यवस्था उपनयन संस्कार हो जाने के बाद शुरू हुई।

वल्लभ की मेधा शक्ति अद्भुत थी। केवल एक बार किसी पाठ को पढ़ लेने अथवा सुन लेने से उन्हें कंठस्थ हो जाता था। उनकी इस अलौकिक प्रतिभा का प्रभाव यह हुआ कि अल्पकाल ही में उन्हें साहित्य और शास्त्र का पूर्ण-रूपेण ज्ञान हो गया और अपने अध्यापकों तथा सहपाठियों के वे प्रिय हो गये।

लोकव्यवहार तथा लोकमर्यादा की रक्षा के लिए बालक वल्लभ को पाठ-शाला भेजना पड़ा और उनकी शिक्षा की व्यवस्था की गई थी। यों जन्म से ही उन्हें शास्त्रों तथा धर्मग्रन्थों का ज्ञान था और बाल्यकाल से ही वे श्रीमद्-भागवत के दशम स्कन्ध का पारायण करते-करते भाव-विह्वल होकर अपनी सुधि बिसरा देते थे। बाल्यकाल से ही उनकी वाणी गिरा गम्भीर थी और वे शास्त्रसम्मत बातें कहते थे। भाषा का शुद्ध उच्चारण और वह भी भक्ति-भाव से ओत-प्रोत उनकी वाणी सुनते ऐसा लगता था, जैसे देवलोक से आया कोई दिव्य बालक समस्त ज्ञान अपने भीतर समेटे विश्व को प्रकाश-पुंज देने अवतरित हुआ हो।

•

पूर्व पुरुषों की जन्म भूमि में

कहते हैं कि जब जीवन का पुण्य उदय होता है, तब आदमी का मन परम संतोष से भर जाता है और हाय-हाय या भाग-दौड़ के प्रति उसके मन में विरक्ति पैदा हो जाती है। जब आदमी के मन में किसी प्रकार की इच्छा शेष नहीं रहती, तब उसके मन से मृत्यु का भय भी निकल जाता है और वह सांसारिक बंधनों से मुक्ति पा जाता है। वल्लभ जैसा पुत्र पाकर लक्ष्मण भट्ट का मन आनन्द से परिपूर्ण था। बालक की दैविक लीलायें देखकर तथा पूर्व के स्वप्नों के आधार पर उन्हें निश्चय हो गया था कि भगवान् ने उनके पुत्र के रूप में अंशावतार लिया है। किसी भी पिता के लिए इससे अधिक संतोष और प्रसन्नता किस बात से हो सकती है? अपने परम संतोष और प्रसन्नता की इसी स्थिति में उन्होंने अपना प्राण त्यागने का निश्चय किया।

अपना निश्चय बतलाने के लिए उन्होंने एक दिन वल्लभ को बुलाया और बहुत स्नेह और प्यारपूर्वक यों बोले—"प्यारे पुत्र! मैं लोक-कल्याण के लिए पृथ्वी पर अवतरित तुम्हें भगवान् श्रीकृष्ण का अवतार ही मानता हूँ। फिर भी तुम्हारा पिता कहलाने का अपना लोभ सम्वरण नहीं कर पा रहा हूँ। सांसारिक रूप में मेरी स्थिति है भी यही। इसीलिए तुम्हें सर्वगुण सम्पन्न सर्वज्ञ जानते हुए भी तुम्हारा पिता होने के नाते तुमसे कुछ कहकर अपने दायित्व का निर्वाह करना चाहता हूँ। तुम्हें पुत्र रूप में पाकर मैं धन्य हूँ। मेरा मनुष्य शरीर पाना सफल हो गया। मैंने सोमयाजियों के घर में जन्म लिया। स्वयं भी सोमयज्ञ किये। जीवन भर ब्राह्मण धर्म का पालन किया। भगवान् पर पूर्ण भरोसा रखते हुए अपने विवेक से कार्य करता रहा और कभी अंहकार अथवा विकार को मन मस्तिष्क में प्रविष्ट नहीं होने दिया। लेकिन इसमें मेरा कुछ नहीं था। यह सब कुछ भगवद्-कृपा से सम्भव हुआ है और फिर तुम्हारा पिता होकर मैंने जीवन का सब वैभव पा लिया। अब कोई लालसा शेष नहीं है।"

श्री लक्ष्मण भट्ट मन और वाणी से भक्ति विह्वल हो रहे थे। वे वस्तुतः जगत् की मिथ्या मोह-माया से निर्लिप्त हो चुके थे। उन्होंने उपदेश के स्वर में वल्लभजी से कहा—"यह जगत् अनेक प्रकार के प्रलोभनों एवं मोह का केन्द्र

है। यदि मनुष्य विवेक और सद्बुद्धि से काम न ले, तो उसका एक पग भी बढ़ना असंभव है। जीवन में ऐसे अवसर आते हैं, जिनके कारण मन में नैराश्य उत्पन्न हो जाता है और भविष्य अंधकारपूर्ण दिखाई देता है। ऐसे ही समय मनुष्य की परीक्षा के होते हैं। जो भक्तप्रकृति के लोग हैं और ईश्वर में आस्था रखते हैं, वे कभी विचलित नहीं होते और धैर्यपूर्वक समय का सामना करते हैं। मनुष्य को सदा कुछ-न-कुछ अच्छी बात सीखने की कोशिश करते रहना चाहिए और ब्राह्मण को तो विशेष रूप से अध्ययनशील रहना चाहिए। साथ ही शान्त-मना तथा परोपकारिता उसका सहज स्वभाव होना चाहिए। जो ब्राह्मण द्रव्य लोलुप है तथा दूसरों का अपकार करता है, उसे सद्गति प्राप्त नहीं हो सकती।"

इसके बाद उन्होंने अपनी पत्नी श्रीमती इल्लमा जी को बुलाया। अपने पति के मुख मण्डल पर अद्भुत शान्ति एवं गम्भीरता देखकर उन्हें बहुत विस्मय हुआ। वे चिन्तातुर हो उठीं। पत्नी के मन की बात जानकर उन्होंने कहा—"देवि! हमारे-तुम्हारे लिए संसार में कुछ सोचने योग्य नहीं रह गया है। वल्लभ जैसे पुत्र को जन्म देकर हम परमपद के अधिकारी हो गये हैं। अब हमारे यहाँ रहने की कोई आवश्यकता नहीं है। लेकिन हम दोनों के साथ-साथ परलोकगामी होने से वल्लभ को कष्ट होगा। इसलिए तुम अभी इसी संसार में रहो और अपने पुत्र का यश और भाग्योदय देखो। मनोकामना पूर्ण होने पर तुम बैकुण्ठ में आना। मुझे तुम सब लोग आज्ञा दो। हमारा जीवन पूर्ण सफल रहा। मैं पूर्ण सन्तोष के साथ विदा ले रहा हूँ—इसलिए मेरे लिए दुःख न करना।"

शास्त्रकारों ने कहा है कि अनायास मृत्यु और बिना दैन्य का जीवन भाग्यवान् पुरुषों को ही मिलता है। श्रीलक्ष्मण भट्ट ने सबको यथोचित उपदेश देकर समाधि लगा ली—और फिर कभी नहीं उठे—वे बैकुण्ठवासी हो गये।

पिता के देह त्याग से वल्लभ बड़े दुखी हुए। उन्होंने विधिवत् उनका श्राद्ध कर्म बड़ी श्रद्धा से किया और एक वर्ष तक काशी में रहे। इस समय का उपयोग उन्होंने बड़े विचित्र ढंग से किया। हिन्दू कर्मकाण्ड में ऐसी मान्यता है कि दाह-संस्कार करने वाले व्यक्ति को एक वर्ष तक बहुत ही नियमित रहकर शास्त्र का अध्ययन-मनन करना चाहिए। इस मान्यता की चाहे कोई धार्मिक पृष्ठ-भूमि न हो, किन्तु मनोवैज्ञानिक आधार अवश्य है। मृत्यु के सारे भय से मुक्त होने के लिए धार्मिक एवं आध्यात्मिक प्रसंग का बार-बार पठन-पाठन दाह-संस्कार करने वाले व्यक्ति के लिए आवश्यक बताया गया है। वल्लभजी ने इस एक

वर्ष के समय का उपयोग काशी में घूम-घूमकर धर्म और शास्त्र प्रचार कार्य करने में किया। उस समय तक उनकी पर्याप्त ख्याति हो चुकी थी। उनकी विद्वत्ता एवं पाण्डित्य से सम्पूर्ण नगरी परिचित हो गई थी। वे जहां भी जाते लोगों की अच्छी भीड़ वहाँ इकट्ठी हो जाती थी। और वे अपनी मधुर एवं ओजस्वी वाणी में भीड़ को सम्बोधित करने लगते थे। इस कार्य-क्रम का परिणाम यह हुआ कि काशी में भक्ति की एक नई धारा बह चली और इससे अनेक मत-मतान्तरों के बीच भूले-भटके लोगों को एक नया प्रकाश दिखाई देने लगा।

इस तरह एक वर्ष धार्मिक कार्यों में बिताने के बाद वल्लभजी का मन अपने पूर्वजों की जन्म भूमि कांकरवाड जाने का हुआ। पुत्र की यह इच्छा जानकर देवी इल्लमा बहुत प्रसन्न हुई। उन्होंने वल्लभ के प्रस्ताव का समर्थन किया। लेकिन सेठ कृष्णदास को यह जानकर कि वे दक्षिण प्रदेश जाने का विचार कर रहे हैं, बहुत कष्ट हुआ। सेठ जी इस दिव्य बालक को भगवान् कृष्ण का अवतार जानकर उनकी पूजा करते थे और उनके उपदेशामृत से अपने जीवन के प्रत्येक क्षण का उचित उपयोग करते थे। वल्लभ का वियोग उनके लिए वेदना-पूर्ण लग रहा था। अतः सेठ जी ने वल्लभजी से अपनी प्रस्तावित यात्रा स्थगित करके काशी में ही रहने का आग्रह किया। वल्लभजी अपने प्रति सेठजी के वात्सल्यपूर्ण भाव से सुपरिचित थे। उन्होंने सदा बालक वल्लभ को पिता का स्नेह और प्यार दिया था। और साथ ही बाल भगवान् के वे भक्त भी थे। अपने इस आराध्य को अपनी आँखों से ओझल हो जाने की कल्पना से उनका दुःखी हो जाना स्वाभाविक ही था। अतः जिस भावना से प्रेरित होकर सेठ जी ने वल्लभजी से काशी छोड़कर न जाने का आग्रह किया था, उसका पूर्ण सम्मान करते हुए उन्होंने सेठ जी को बहुत आदरपूर्वक समझाया कि केवल काशी में रहने से उनके उद्देश्य की पूर्ति न हो सकेगी। भगवान् कृष्ण का सन्देश उन्हें देश के कोने-कोने में पहुँचाकर लोगों को भक्ति एवं धर्म के प्रति उत्प्रेरित करना है।

सेठ जी को वल्लभजी की बात पसन्द आई। उन्होंने पूरी स्थिति को समझकर वल्लभजी की यात्रा की तैयारी कर दी। रास्ते के उपयोग के लिए सामानों की भरपूर व्यवस्था करके तथा साथ में जाने वाले सेवकों का प्रबन्ध करके उन्होंने वल्लभजी को भावभीनी विदाई दी।

काशी से प्रयाग और फिर चित्रकूट होते हुए वल्लभजी चम्पारण्य पहुँचे।

अपने जन्म स्थान में पहुँचकर उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई। वहाँ पहुँचकर महानदी के किनारे उन्होंने श्रीमद्भागवत का पारायण किया एवं अपने शिष्यों को भगवान् श्रीकृष्ण की भक्ति का उपदेश दिया।

यहाँ से वल्लभजी कांकरवाड पहुँचे। उनके यहाँ आने के पूर्व उनकी यश-कथा यहाँ पहुँच चुकी थी। उनकी अलौकिक भक्ति और प्रभाव से लोग परिचित हो चुके थे। उनके यहाँ पहुँचने की खबर बिजली की भाँति दूर-दूर के गांवों में पहुँच गई। चारों तरफ से जनता की अपूर्व भीड़ उनके दर्शनों के लिए उमड़-उमड़ कर आने लगी। गाँव में आनन्द की लहर दौड़ गई। उनके बड़े भाई रामकृष्ण और सम्बन्धियों ने हृदय खोलकर वल्लभ का स्वागत किया। अपने पूर्वजों की जन्म-भूमि में जाकर वल्लभजी को बहुत प्रसन्नता हुई। वे सबसे बड़ी आत्मीयता से मिले और अपने व्यवहार एवं सहृदयता से अपने मिलने वालों को ऐसा आभास करा देते थे, जैसे इनसे उनका परम्परागत सम्बन्ध हो।

●

वल्लभ को आचार्य पद

महापुरुषों का व्यवहार सामान्य जन से सर्वथा भिन्न होता है। अपने सद्विचार और आचरण से वे सबको आकर्षित और प्रभावित करते रहते हैं। इसके लिए उन्हें प्रयास नहीं करना पड़ता। यह उनका स्वाभाविक गुण होता है। अपने पूर्व पुरुषों की तपोभूमि में थोड़े ही समय के निवास के बाद अपनी अलौकिक विद्वत्ता और धार्मिकता से उन्होंने हजारों व्यक्तियों को अपना अनुयायी बना लिया। वे काशी की ही भांति वहाँ भी धार्मिक प्रवचन करते थे। इसके लिए वे आस-पास के प्रमुख स्थानों में जाते और कृष्ण भक्ति के उपदेश करते थे। उनकी वाक्शक्ति और विलक्षण प्रभावोपकारी भाषण का सुनने वालों पर तत्काल प्रभाव पड़ता था।

उनकी दिन-प्रतिदिन बढ़ती यश कथा और कीर्ति से वहाँ के आचार्य ईर्ष्या से दग्ध होने लगे। उन्होंने सम्मिलित रूप से विचार करके श्री वल्लभ को शास्त्रार्थ में परास्त कर उनकी बढ़ती कीर्ति में रोकथाम करने का विचार किया। इस उद्देश्य से पंडितों का एक समूह श्री वल्लभजी से शास्त्रार्थ के लिए आया। लेकिन वल्लभजी की भक्ति भाव से ओत-प्रोत विचारों और अकाट्य तर्कों के सामने उनके पंडिताऊ विचार बालू की भीत के समान धराशायी हो गये। पंडितों की इस पराजय से वल्लभजी की प्रतिष्ठा में चार चाँद लग गये। उनके चाचा जनार्दन दीक्षित तो आनन्द और प्रसन्नता से झूम उठे। उन्हें वल्लभजी की विजय से ऐसा लगा, जैसे उनके कुल का यह दीपक—श्री वल्लभ जी ने कुल की पिछली और अगली सभी पीढ़ियों को आलोकित कर दिया।

उन्हीं दिनों विजयनगर के राजा श्री कृष्णदेव राय विद्वानों एवं आचार्यों का एक सर्वदलीय सम्मेलन करके यह निश्चय करना चाहते थे कि भगवान् की पूजा-अर्चना की कौन विधि सर्वश्रेष्ठ है। वे पंडितों के प्रति आस्थावान् थे और उनका आदर करते थे, एवं उनके दरबार में पंडितों को सम्मान मिलता था। इसलिए श्री वल्लभ जी के मामा ने, जो उसी नगर के निवासी थे, श्री वल्लभ जी को यह सूचना भेजी कि वे राजा श्रीकृष्णदेव राय से मिलें और अपने मत

के लिए उनका समर्थन प्राप्त करें। व्यक्तिगत रूप से राजा से चाहे श्री वल्लभ जी न भी मिलते, किन्तु जब उन्होंने सुना कि राजा से पंडितों एवं आचार्यों का एक सम्मेलन बुलाया है, तो वे परम प्रसन्न हुए। उन्होंने इसे एक सुअवसर समझकर भगवान् श्रीकृष्ण के चरणों में अपना नमन किया और वहाँ जाने का संकल्प किया।

उन्होंने अपनी माताजी से इस संकल्प की चर्चा की। वे परम प्रसन्न होकर बोलीं—"भगवान् वेंकटेश के दर्शनों की इच्छा मैं बहुत समय से अपने हृदय में संजोये हुए हूँ। तुम्हारे पिता ने भी दक्षिणापथ की यात्रा का संकल्प किया था। भगवान् की दया से ऐसा संयोग उपस्थित हो गया है। वहाँ जाकर तुम पिता के ऋण से उऋण होओगे और आचार्यों के समाज में भगवत् चर्चा का अवसर मिलेगा। साथ ही मैं वेंकटेशजी के दर्शन करूँगी और अपने मायके वालों से मिल लूंगी। यह संयोग तो 'सोने में सुगन्ध' जैसा है।"

अपनी माताजी की वह दिव्य इच्छा जानकर श्री वल्लभ जी ने अपने चाचा से व्यवस्था के लिए निवेदन किया। उन्होंने तत्काल सारा प्रबन्ध कर दिया। सवारी, सेवक तथा राह खर्च के लिए सम्पूर्ण सामग्रियों का प्रबन्ध हो जाने पर श्री वल्लभजी ने अपने चाचा से कहा—"परमपूज्य पितृतुल्य चाचा जी! हालाँकि अपने पिता तथा पूर्व पुरुषों की अर्जित इस सम्पत्ति का मैं भागीदार हूँ, किन्तु मुझे किसी वस्तु की आवश्यकता नहीं है। आप अपने परिवार के देवालय में रखी गई शालग्राम की बटिया और श्रीमद्भागवत की पुस्तक हमें दे दें। मैं भगवान् की पूजा करूंगा। इसके अतिरिक्त मुझे किसी वस्तु की आवश्यकता नहीं है।" उनकी माताजी ने देवालय में रखी श्री गोपालनन्दन की मूर्ति के लिये निवेदन किया और वह उन्हें मिल गई।

श्री जनार्दन दीक्षित ने अपने भतीजे और भाभी द्वारा माँगी गई वस्तुओं को उन्हें सहर्ष समर्पित किया और शुभ मुहूर्त में उन्हें विदा किया। जानदन दीक्षित ने उनके साथ जाने के लिए जितने सेवकों का प्रबन्ध किया था, उनके अतिरिक्त अनेक लोग श्री वल्लभजी के साथ जाने के लिए अपने आप तैयार हो गये। उनमें से कुछ उनके पिता के शिष्य भी थे।

सभी लोग भजन-कीर्तन करते साथ-साथ बड़े आनन्द से यात्रा कर रहे थे। जहाँ शाम हो जाती, वहीं ये लोग डेरा डाल देते और रात बिताते थे। श्री वल्लभजी स्नानादि पूजा से निवृत्त होकर स्वयं भोजन बनाते और भगवान् को अर्पण करके उसे प्रसाद रूप में ग्रहण करते थे। वल्लभ सम्प्रदाय के लोग अब

तक इसी परम्परा को मानकर, पहले किसी वस्तु को भगवान् को अर्पण करते हैं और बाद में उसे प्रसाद स्वरूप स्वयं ग्रहण करते हैं। यों भगवान् को भोग लगाकर बाद में उसे प्रसाद रूप में ग्रहण करने की प्रथा दूसरे हिन्दू मतावलम्बी भी मानते हैं।

श्रीवल्लभजी ने मार्ग में जहाँ विश्राम के लिए डेरा डाला, वहाँ के निवासी बहुत बड़ी संख्या में आकर श्रद्धापूर्वक उनका सत्कार करते और उनका भक्ति-भाव पूर्ण प्रवचन सुनते थे। इसी प्रकार मार्ग में विश्राम करके चलते-चलते कुछ ही दिनों में उनका दल वेंकटाद्रि में पहुँच गया। यह वह स्थान है जहाँ से छोटी-बड़ी छह पहाड़ियों को पार करने के बाद श्रीवेंकटेशजी का मन्दिर पड़ता है। इसी पहली पहाड़ी की तलहटी में भगवान् रामचन्द्र का एक मन्दिर है। स्नानादि से निवृत्त होकर श्रीवल्लभजी ने इसी मन्दिर में भगवान् की पूजा-अर्चना की। तत्पश्चात् श्रीवेंकटेश भगवान् के दर्शन के लिए चले। छह पहाड़ियों को पार करके जब भगवान् वेंकटेश के मन्दिर के सामने पहुँचे, तो उन्हें परम संतोष हुआ। उनके संगी-साथियों तथा माताजी, सबके लिए जीवन की यह एक बहुत बड़ी उपलब्धि थी। सबका मन भगवान् के प्रति कृतज्ञता से भर उठा।

भगवान् वेंकटेश की विधिवत पूजा-अर्चना के बाद ये लोग विजयनगर के लिए रवाना हुए। अपने मामाजी को वल्लभजी ने अपने पहुँचने की सूचना पहले ही करवा दी थी। अपने बन्धु-बान्धवों समेत उन्होंने अपने भानजे और बहिन की अगवानी की और हृदय खोलकर उमंग के साथ स्वागत-सत्कार किया।

रात भर विश्राम करने के बाद दूसरे दिन प्रातः श्री वल्लभ से उनके मामा ने बतलाया कि, "यहाँ के राजा श्रीकृष्णदेव राय धार्मिक प्रवृत्ति के व्यक्ति हैं। अनेक धार्मिक मत-मतान्तरों से ऊब कर उन्होंने धर्मों के आचार्यों का एक सम्मेलन बुलाया है। सम्मेलन गत कई दिनों से चल रहा है। इस सम्मेलन के शास्त्रार्थ द्वारा राजा यह तय करना चाहते हैं कि कौन सम्प्रदाय जन साधारण के लिए अधिक उपयोगी और आनन्दप्रद है। सम्मेलन द्वारा यह निष्कर्ष स्वीकार कर लिए जाने पर राजा स्वयं उसी मत को स्वीकार कर लेंगे और उसे राजाश्रय प्राप्त हो जायेगा।"

मामाजी ने आगे कहा—"यों यहाँ शंकराचार्य के अद्वैत मत का बोलबाला

अधिक है और ऐसा लगता है कि सम्मेलन द्वारा शंकराचार्य का मत स्वीकार होगा।''

श्रीवल्लभ को यह सुनकर प्रसन्नता नहीं हुई। शंकराचार्य की विद्वत्ता को स्वीकार करते हुए उनकी मान्यताओं के प्रति वल्लभजी की आस्था नहीं थी। शंकराचार्य का मत ज्ञानमार्गी है और वल्लभजी भक्तिमार्गी थे। शंकराचार्य का कहना है कि ब्रह्म एक है, संसार मिथ्या है। ब्रह्म के अतिरिक्त किसी अन्य वस्तु का अस्तित्व नहीं है।

श्रीवल्लभजी ब्रह्म को सब धर्मों से युक्त अन्तर्यामी, अनन्त, स्वाभाविक गुणों से विशिष्ट और मायाधीश मानते हैं। श्रीवल्लभजी कहते हैं कि ईश्वर ने जो कुछ किया है, सब अपने माहात्म्य से किया है—माया के द्वारा नहीं। वह निर्गुण होकर भी सगुण हैं।

शास्त्रार्थ के समय पर जब वल्लभजी राजा कृष्णदेव राय के दरबार में पहुँचे, उस समय उनकी अलौकिक शोभा और तेज से सारा वातावरण प्रकाशमान हो उठा। उनके पहुँचते ही राजा श्रीकृष्णदेव राय सिंहासन से उठ खड़े हुए और वल्लभजी को बैठने के लिए उचित आसन दिया। राजा को देखकर दूसरे लोग भी अपने-अपने स्थानों से खड़े हो गये और श्रीवल्लभ का उचित स्वागत किया।

जिस समय श्रीवल्लभजी राजसभा में पहुँचे, उस समय शंकराचार्य के अद्वैतमत पर शास्त्रार्थ हो रहा था। जब उनकी बारी आई तो उन्होंने शंकराचार्य के अद्वैतमत का तर्कपूर्ण तथ्यों के आधार पर खंडन किया। श्रीवल्लभजी की इस सफलता से अद्वैतमार्गी बहुत खिन्न हुए। लेकिन वे किसी प्रकार भी श्रीवल्लभजी को परास्त करने की स्थिति में नहीं थे। श्रीवल्लभजी का भाषा पर प्रभाव, विषय पर प्रभुत्व और अपना पक्ष रखने की कला पर इतना सशक्त अधिकार था, कि विरोध पक्ष एकदम श्रीहीन-सा प्रतीत होने लगा। अन्त में सभी पंडितों ने उनकी विद्वत्ता स्वीकार करके उन्हें 'आचार्य' पद से अलंकृत किया। श्रीवल्लभाचार्य की यह अनुपम विजय थी। इससे उनकी यश-कथा सम्पूर्ण देश में फैली और उनके सिद्धान्तों का गम्भीरता से अध्ययन होने लगा।

राजा श्रीकृष्णदेव राय वल्लभाचार्य की इस विजय से बहुत प्रभावित हुए और उन्होंने विधिवत् उनका मत स्वीकार कर लिया। महाप्रभु वल्लभाचार्य का नागरिक अभिनन्दन हुआ और विजयनगर के हजारों नर-नारियों के सम्मुख

उन्हें सोने के सिंहासन पर बिठाकर उनकी पाण्डित्यपूर्ण वाक्शक्ति, उनकी विद्वत्ता एवं गोपालनन्दन श्रीकृष्ण में असीम भक्ति के लिए उनकी अभ्यर्थना की गई। यह एक अद्भुत समारोह था। ऐसा समारोह उस नगर अथवा उस क्षेत्र में अपनी तरह का पहला था। उस समारोह में एक विशेष बात यह हुई कि श्रीवल्लभाचार्य ने उपस्थित जन-समूह से यह पूछा कि क्या उनकी कही बातों में किसी एक व्यक्ति को भी शंका है ? एक स्वर से उत्तर मिला—नहीं।

उसी सभा में वल्लभाचार्य के एक शिष्य ने उनकी अनुमति से उन आचार्यों से क्षमा याचना की, जिनको शास्त्रार्थ होते समय वल्लभाचार्य की तर्कपूर्ण बातें अच्छी नहीं लगी थीं, और जिन्हें किसी प्रकार से मानसिक क्लेश पहुँचा था। क्योंकि शास्त्रार्थ में कभी-कभी कटु सत्य भी मुंह से निकल आते हैं। लेकिन वल्लभाचार्य ने कभी कठोर सत्य या कटु वचन का सहारा नहीं लिया, उनका हृदय बड़ा कोमल और वाणी बहुत मधुर थी। स्वभावतः वे कठोर वचन बोल ही नहीं सकते थे। केवल आशंकावश उन्होंने क्षमा याचना की थी। उनकी इस साधुवादिता पर उपस्थित समाज ने उन्हें धन्य-धन्य कहा।

वल्लभाचार्य की तीर्थयात्रा

विजयनगर के नागरिक अभिनन्दन और समारोह के अवसर पर राजा श्रीकृष्णदेव राय ने प्रचुर मात्रा में धन और सोने-चांदी की सामग्री वल्लभाचार्य को भेंट की। सोने, चांदी के इन बर्तनों और कई सहस्र मुद्राकोष की ओर इंगित करते हुए महाप्रभु ने कहा—'राजन्! आपने भगवान् के प्रति जो श्रद्धाभक्ति प्रदर्शित की है, हमारे लिए वही महत्वपूर्ण है। इस धनराशि का हम क्या करेंगे? हमारा कार्य तो पृथ्वीतल पर विचरण करना और गोपालनन्दन श्रीकृष्ण की भक्ति का प्रचार करना है। अतः यदि आप अनुमति दें, तो इसे आचार्य समुदाय में वितरित कर दिया जाय।" महाप्रभु की बात सुनकर राजा को बहुत हर्ष हुआ।

वहाँ से लौटकर महाप्रभु ने अपनी माता को प्रणाम किया और भगवान् की आराधना की। दूसरे दिन प्रातः ब्रह्मवेला में स्नानादि से निवृत्त होकर नियमपूर्वक अपने सम्प्रदाय में प्रवृत्त होने के निमित्त महामन्त्र का उपदेश ग्रहण करने के लिए श्री विल्लमंगलाचार्यजी को स्मरण किया। वे उन दिनों वृन्दावन में रहते थे। स्मरण करते ही वे तत्काल वहाँ प्रकट हो गये।

श्रीवल्लभाचार्य ने उन्हें साष्टांग प्रणाम किया और उनकी विधिवत् पूजा-अर्चना की। इसके बाद महाप्रभु ने पूज्यपाद विल्वमंगलजी से अपना निवेदन कह सुनाया। महाप्रभु की बात सुनकर विल्वमंगलजी बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने श्रीवल्लभाचार्य को बताया कि "द्वारिकाधीश भगवान् ने मुझे आदेश दिया था कि मैं उस शुभ घड़ी की प्रतीक्षा करूँ, जब भागवत् सम्प्रदाय की रक्षा के लिए तुम्हारा अवतार होगा। भगवान् श्रीकृष्ण के आदेश से इस शुभ दिन की प्रतीक्षा मैं बड़े मनोयोग से करता रहा हूँ। समय जाते देर नहीं लगी और तुम्हारे स्मरण करते ही आज यहाँ उपस्थित हूँ।"

श्री विल्वमंगल ने श्रीवल्लभ को सम्प्रदाय का पूर्ण इतिहास बतलाया और पूरे विधि-विधान के साथ उन्हें दीक्षित किया। अपने सम्प्रदाय के उत्थान के लिए भगवान् के अवतार श्रीवल्लभाचार्य से उन्होंने कहा—"वत्स! इस कलिकाल में वैदिक एवं धार्मिक कर्मकाण्ड में लोगों की श्रद्धा नहीं रह गई है। चारों ओर से धर्म पर आक्रमण हो रहे हैं और व्यक्ति की धर्म-कर्म के प्रति श्रद्धा कम होती

जा रही है। ऐसी स्थिति में अब तुम आलस्य का त्याग करके, भक्तियोग का प्रचार तथा भगवान् की महिमा का गुणगान करोगे, तभी सनातन धर्म की रक्षा हो सकेगी।"

श्रीवल्लभाचार्य ने अपने दीक्षा-गुरु श्रीविल्वमंगल का उपदेश श्रद्धापूर्वक स्वीकार किया और विधिवत् उनकी पूजा-अर्चना करके उन्हें भावभीनी विदाई दी। श्रीविल्वमंगलजी वहां से प्रयाग आ रहे थे।

अपने देश के अधिकांश धर्माचार्यों के साथ सबसे बड़ी दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति यह रही है कि वे अपने मत या सम्प्रदाय के पक्ष में कुछ कहने की अपेक्षा दूसरे मतमतान्तरों पर आक्षेप अधिक करते रहे हैं। यही कारण है कि धर्म-प्रचारकों में सह-अस्तित्व की अपेक्षा प्रतिद्वन्द्विता की भावना सदैव काम करती रही है और परिणामस्वरूप वे वैरभाव से ग्रसित रहे हैं। महाप्रभु वल्लभाचार्य इस स्थिति से परिचित थे। वस्तुतः पंडितों एवं आचार्यों के इस प्रकार के क्षुद्र आचरण से वे क्षुब्ध थे। अतः उन्होंने निश्चय किया कि वे सम्पूर्ण देश का भ्रमण करेंगे और भगवान् श्रीकृष्ण का गुणगान करके उनकी भक्ति की ओर लोगों को आकृष्ट करेंगे। इस पुनीत और मंगल कार्य के लिए किसी अन्य मत या सम्प्रदाय पर आक्षेप अनावश्यक एवं समय का अपव्यय था।

इस प्रकार के पवित्र संकल्प के साथ वल्लभाचार्य ने तीर्थ स्थानों में जाकर भक्ति प्रचार का शुभारम्भ करने का निश्चय किया। कलियुग में मन, वाणी और विचार को सात्विक बनाये रखने के लिए तीर्थ स्थानों के दर्शनों से अधिक कोई दूसरा उपाय नहीं है। साथ ही ऐसे स्थानों पर ऋषि, मुनि और तपस्वियों के संसर्ग का लाभ भी मिलता है। अतः महाप्रभु ने दक्षिण भारत के तीर्थस्थलों में जाने का कार्यक्रम निश्चित किया। अपने निश्चय की सूचना उन्होंने विजय-नगर के राजा श्रीकृष्णदेव राय को दी। राजा महाप्रभु के शिष्य हो गये थे और अपना अधिकांश समय महाप्रभु के सामीप्य में बिताते थे। तीर्थ जाने की महा-प्रभु की इच्छा जानकर वे बहुत दुखित हुए। उन्हें ऐसा लगा जैसे उनका बहुत बड़ा सहारा टूट रहा हो। लेकिन महाप्रभु के समझाने पर वे संतुष्ट हो गये और स्वयं कुछ दूर तक उन्हें पहुँचाने गये।

इस यात्रा में वल्लभाचार्य ने अपना पहला विश्राम पंपापुर में किया। वहाँ उन्होंने भगवान् श्रीराम की पूजा की और भागवत का पाठ किया। इसके बाद वे ऋष्यमूक, वेंकटाचल, कांचीपुरम् और चिदाम्बरम् आदि तीर्थों का दर्शन

करते हुए दक्षिण द्वारका पहुँचे। वहाँ पहुँचकर उन्होंने पुनः श्रीमद्भागवत पुराण का पारायण किया। वहीं पर श्रीराघवाचार्य नामक एक विद्वान् ने महाप्रभु से शंकर वेदान्त और मायावाद की चर्चा छेड़ दी। राघवाचार्य का अभिप्राय महाप्रभु समझ गये। यह शास्त्रार्थ के लिए आह्वान था। श्रीवल्लभाचार्य और राघवाचार्य का शास्त्रार्थ कटुतारहित आनन्दपूर्ण वातावरण में प्रारम्भ हुआ। दोनों आचार्यों ने युक्ति और तर्कपूर्ण ढंग से अपने-अपने मत को उपस्थित किया। श्रीराघवाचार्य अपने विषय के पूर्ण ज्ञाता थे। लेकिन वे बहुत समय तक महाप्रभु के तेज के सामने टिक न सके। अन्त में वे वल्लभाचार्य के मत के प्रति अपनी सहमति व्यक्त करते हुए, उनके अनुयायी हो गये।

वहाँ से सुब्रह्मण्यम् तथा अनेक तीर्थों, नगरों, ग्रामों एवं उपवनों को पवित्र करते हुए वे श्रीरामेश्वरम् पहुँचे। श्रीरामेश्वरम् के पवित्र क्षेत्र में श्रीभागवत का पारायण किया और वहाँ से तोताद्रि गये। तोताद्रि क्षेत्र में पहले से ही उनके भक्त एकत्रित थे। वहाँ कुछ ऐसे लोग भी थे, जो शंकालु थे और अपनी अल्पज्ञता के कारण शंका समाधान के लिए किसी अलौकिक वस्तु अथवा कार्य का प्रत्यक्ष दर्शन करना चाहते थे। महाप्रभु अपने इन शंकालु भक्तों की इच्छा जान गये। फिर क्या था। उसी क्षण उस निर्जल स्थान में पवित्र जल की एक निर्झरिणी तीव्रगति से वहीं प्रवाहित होने लगी। महाप्रभु के इस पुनीत प्रताप का प्रभाव उपस्थित व्यक्तियों पर अच्छा पड़ा। जो शंकालु लोग थे, वे भी यह कौतूहल देखकर आश्चर्य में पड़ गये और यह मानकर कि महाप्रभु वास्तव में चमत्कारी महापुरुष हैं, उनके अनुयायी हो गये।

इसके पश्चात् महाप्रभु पद्मनाभ क्षेत्र में पधारे। उनकी पवित्र कीर्ति की यह कथा सुनकर वहाँ के राजा उनके दर्शन के लिए आये। दर्शनार्थी राजा को अत्यन्त उदास और खिन्न-चित्त देखकर महाप्रभु ने इसका कारण पूछा। अपने प्रति वल्लभाचार्य का यह स्नेहपूर्ण व्यवहार देखकर राजा का मन भर आया। उन्होंने कहा—'महाप्रभु! जीवन में मैं प्रसन्न था। किसी प्रकार की कमी नहीं थी। मेरे पूज्य पिता ने मेरा विवाह एक अत्यन्त सुशील और सुन्दर कन्या से किया था। लेकिन विवाह के कुछ ही समय के बाद से मेरी पत्नी किसी प्रेत व्याधि से पीड़ित होकर अचेतन अवस्था में पड़ी रहती है। वह क्षीणकाय हो गई है और उसकी स्त्री-सुलभ शारीरिक कमनीयता भी समाप्त हो गई है। इसी कारण मैं बहुत चिन्तित और दुखी हूँ।"

श्री वल्लभाचार्य ने तन्मयता से राजा की बातें सुनी उन्होंने अपने शिष्य

दामोदर की ओर देखा। दामोदर अपने गुरु का आशय समझ कर एक पात्र में उनका चरणोदक लेकर राजा के साथ उनके महल में गये और चरणोदक को अचेत अवस्था में पड़ी राजा की पत्नी के शरीर पर छिड़का। चरणोदक का स्पर्श पाते ही रानी अँगड़ाई लेती हुई ऐसे उठ बैठी, जैसे बड़ी सुख-शान्ति की निद्रा से जगी हों। लम्बी अवधि की प्रेत-व्याधि के कारण उनके शरीर की समाप्त कोमलता पुनः लौट आई और रानी पूर्णरूप से स्वस्थ और सुन्दर दिखने लगी।

चरणोदक का यह अद्भुत प्रभाव देखकर राजा और उनके परिवार वाले आत्मविभोर हो उठे। यह समाचार बातों-ही-बातों में नगर भर में प्रचारित हो गया। महाप्रभु के दर्शनों के लिए भीड़ लग गई। राजा और उनके परिवार ने विधिवत् अपनी कृतज्ञता ज्ञापित की और उनके अनुयायी हो गये।

यहाँ से तीर्थों में भ्रमण करते और श्रीभागवत सम्प्रदाय का प्रचार करते हुए महाप्रभु गुजरात में परम पुनीत नर्बदा के सुरम्य तट पर पहुँचे। नर्वदा के पावन तट पर वल्लभाचार्य ने कुछ काल तक निवास किया। कथा-वार्ता की विधिवत् व्यवस्था थी। महाप्रभु द्वारा कही जाने वाली श्रीमद्भागवत कथा का रसास्वादन करके अपने जीवन को सार्थक बनाने वाले भक्तों की संख्या निरन्तर बढ़ती रही।

गुजरात में महाप्रभु के प्रवास काल में कुछ जैनियों ने उनसे शास्त्रार्थ करके उनकी महिमा और प्रभाव कम करने का षड्यंत्र किया। शास्त्रार्थ में जैन मुनि बुरी तरह परास्त हुए। महाप्रभु के भाव और भक्तिपूर्ण वचनों के आगे उनका कोई तर्क ठहर नहीं सका। जब महाप्रभु ने यह कहा कि 'हमारे लिए तो सारा विश्व ही भगवद्मय है—विश्व के कण-कण में हम उनकी उपस्थिति अनुभव करते हैं। इसलिए हमारे लिए हिंसाकारिणी भावना का अस्तित्व ही नहीं है"—तो उनके इन बहुमूल्य वचनों से जैन साधु निरुत्तर हो गये।

उन दिनों जैनियों का गुजरात प्रदेश में बहुत प्रभाव था। जैन साधु पूजे जाते थे। लेकिन महाप्रभु के साथ इस शास्त्रार्थ में उनकी विजय से जैनियों का पराभव हो गया। जनता में उनकी प्रतिष्ठा घट गई। लोग बड़ी संख्या में वल्लभ सम्प्रदाय की ओर आकृष्ट होने लगे।

यों तो वल्लभाचार्य जी भगवान् के अंशावतार थे और उनकी सभी लीलायें अद्भुत थीं, किन्तु कभी-कभी कुछ चमत्कारी घटनायें भी स्वतः हो जाया करती थीं। जब महाप्रभु गुजरात में ही प्रवास कर रहे थे, कि एक दिन बहेलिये के

डर से भागता हुआ एक हिरण आकर उनके चरणों में लोटपोट गया। उसके पीछे बहेलिया धनुष-बाण लिए दौड़ा आया। बहेलिये को देखते ही हिरण का बच्चा और अच्छी तरह से उनके चरणों में दुबक गया।

ज्योंही महाप्रभु पर बहेलिये की दृष्टि गई, वह अपना धनुष-बाण दूर फेंक-कर हाथ जोड़कर खड़ा हो गया और अत्यन्त विनम्रतापूर्वक बोला "महाराज! मैं एक विशाल राज्य का स्वामी था। कुसङ्ग में पड़कर दुर्व्यसनी हो गया और नीचतापूर्ण कार्यों में लग गया। यहाँ तक कि क्षत्रिय कुल में जन्म लेने पर भी, पूज्य ब्राह्मण कुल की कन्या को बुरी नजर से देखा। कुपित होकर उस ब्राह्मण ने मुझे शाप दे दिया कि तू बहेलिए की तरह उस समय तक इधर-उधर भागा करेगा, जब तक किसी दिव्य महात्मा के दर्शन से तुम्हारे पाप धुल नहीं जाते।"

और अधिक विनीत होकर उस व्यक्ति ने कहा—"महात्मन्! मुझे ऐसा लगता है कि वह दिव्य महात्मा आप ही हैं, जिनके दर्शनों से मेरे पापों का शमन होना है।" इतना कहकर वह व्यक्ति महाप्रभु के चरणों में लेट गया। वल्लभाचार्य ने उसे शान्त किया और आशीर्वाद देकर उसे बिदा किया।

दक्षिण प्रदेश के तीर्थों की यात्रा समाप्त करके महाप्रभु राजस्थान और मध्यप्रदेश के तीर्थ स्थानों में भ्रमण करते रहे। वे उत्तराखण्ड में बदरीनाथ, केदारनाथ, गंगोत्री आदि का दर्शन करके काशी लौट आये। लेकिन वे काशी में निवास के लिए नहीं आये थे। बहुत थोड़े समय तक ही वे काशी में रुके और फिर अपने शिष्यों को लेकर पूर्व प्रदेशों के तीर्थों के दर्शन के लिए चल पड़े।

●

वल्लभाचार्य का विवाह

महाप्रभु वल्लभाचार्य ने दूसरी बार तीर्थ यात्रा काशी से प्रारम्भ की। वे वहां से शिवगया गये। थोड़े समय तक वहां निवास करने के बाद आगे बढ़े और भ्रमण करते हुए पूर्वाञ्चल के सभी प्रमुख तीर्थों का दर्शन करके भारतभूमि की एक परिक्रमा पूरी कर ली। जहां उनके मन में अपने देश से सभी तीर्थों का भ्रमण पूर्ण कर लेने एवं वहां जाकर विधिवत् पूजा-अर्चना करने का संतोष था, वहीं इस बात की कमी खटकती रही, कि अभी तक उन्होंने भगवान् के मन्दिर आदि का निर्माण नहीं करवाया। उन दिनों वे बहुत लोकप्रिय हो चुके थे और देश या दूर के संभागों में उनकी ख्याति पहुँच चुकी थी। लेकिन इससे उनके मन में शान्ति नहीं थी। उन्होंने अनुभव किया कि केवल व्यक्तिगत लोकप्रियता से कुछ नहीं होने वाला है। अतः उन्होंने विजयनगर और गुजरात का दूसरी बार भ्रमण किया। यात्रा में अपने प्रेमियों एवं अनुयायियों से उन्होंने मन्दिरों एवं भगवान् के स्थायी स्मारकों के निर्माण करवाने की चर्चा की। फिर क्या था। उनके आदेश पर कई मुख्य स्थानों पर मन्दिरों के निर्माण प्रारम्भ हो गये।

मन्दिरों का निर्माण करवा कर उनमें भगवान् गोपालनन्दन को सुप्रतिष्ठित करा कर, उनका उद्देश्य भक्तिभावना को चिरस्थायी पद प्रदान करना था। हिन्दू धर्म में मूर्ति पूजा की व्यवस्था है। मूर्ति पूजा की कहीं-कहीं आलोचना भी की गई है। इन आलोचकों के लिए कुछ अधिक न कहकर, हम यहाँ केवल इतना कहेंगे, कि ये आलोचनायें अज्ञानवश हैं। मूर्ति पूजा प्रतीकात्मक है। अपने इष्टदेव और अपने बीच तादात्म्य स्थापित करने के लिए, अथवा अपने को ईश्वर के निकट अनुभव करने के लिए, हम मूर्ति की पूजा उसे प्रतीक मानकर करते हैं।

महाप्रभु वल्लभाचार्य का भी यही उद्देश्य था कि लोग भागवत सम्प्रदाय को समझें, बूझें और उसके अनुरूप आचरण करें। उनका विश्वास था कि मानव को चिरस्थायी सुख और शान्ति देने वाला यही सम्प्रदाय है। इसीलिए मन्दिरों और स्मारकों का निर्माण करवा कर उसमें गोपालनन्दन को प्रतिष्ठित करके, उनकी पूजा और कीर्तन आदि की स्थायी व्यवस्था होनी चाहिए। इस

प्रकार की व्यवस्था से पूजा और भगवत् कार्यों के प्रति लोगों में सहज अनुराग बढ़ेगा और वे अपने को भगवान् से जोड़ेंगे—उनसे तादात्म्य स्थापित करने में मन लगायेंगे।

धार्मिक लोग जगत को ब्रह्ममय मानते हैं। इसके कण-कण में ईश्वर की उपस्थिति स्वीकार करते हैं। "जो कुछ है, भगवान् का है"—कुछ लोग तो यहां तक मानते हैं और इसी प्रकार से आचरण करते हैं। महाप्रभु वल्लभाचार्य भी इसी विचारधारा के थे। वे जो कार्य भी करते थे, ईश्वर को समर्पित होकर अथवा उन्हीं के लिए करते थे। तब भला उनका संकल्प पूरा क्यों न हो? उनके प्रयास-परिश्रम से हरि मन्दिरों की स्थापना होने लगी और हजारों-हजारों की संख्या में लोग तुलसी की माला और कंठी धारण करके उनके विधिवत अनुयायी हो गये।

तीर्थ स्थानों की दूसरी बार परिक्रमा करने के उद्देश्य से महाप्रभु विजयनगर पहुँचे। वहाँ नदी में स्नान करके वे श्रीविट्ठलनाथजी को प्रणाम करने के लिए ज्योंही झुके कि स्वयं भगवान् प्रकट होकर बोले—"अब आप दूसरी बार तीर्थ स्थानों में जाने का अपना विचार त्याग दें। मैं भक्ति के और अधिक प्रचार के लिए आपके यहां अवतार ग्रहण करना चाहता हूँ। आपके लिए योग्य कन्या काशी में है। आप काशी लौट चलें।" श्रीविट्ठलजी का यह आदेश सुनकर महाप्रभु को कुछ अजीब सा लगा। किन्तु यह भगवान् का आदेश था। अतः इस आज्ञा को शिरोधार्य करके वे काशी की ओर लौट पड़े।

जिस प्रकार श्रीविट्ठलजी ने महाप्रभु को आदेश दिया था कि वे गृहस्थाश्रम में प्रवेश करें, उसी प्रकार काशी निवासी परम विद्वान् श्री देवभट्ट को स्वप्नावस्था में आदेश किया कि वे अपनी सुशील कन्या का विवाह अत्यन्त श्रद्धा से श्रीवल्लभाचार्य से कर दें।

इधर प्रयाग आदि तीर्थों का दर्शन-भ्रमण करते हुए महाप्रभु वल्लभाचार्य काशी आये और उधर पंडित देवभट्ट जी उनके दर्शनों के लिए उनके स्थान पर पहुँचे। देवभट्ट जी ने अपने आने का उद्देश्य और भगवान् का आदेश कह सुनाया।

पंडित देवभट्ट की बात सुनकर महाप्रभु ने अत्यन्त विनीत एवं श्रद्धापूर्ण शब्दों में निवेदन किया—"अभी मेरी माताजी जीवित हैं। विवाह के सम्बन्ध में तो बातें वे ही करेंगी।" पंडित देवभट्ट को इस प्रकार समझा कर उन्हें

विदा कर दिया और कुछ अपने शिष्यों को माताजी तथा दूसरे सम्बन्धियों को लिवा लाने के लिए अपने गाँव भेज दिया।

माताजी तथा अन्य बन्धु-बान्धवों के आ जाने पर पहले तो गुरुकुल की मर्यादा के अनुसार समावर्तन संस्कार हुआ और फिर शुभ मुहूर्त में अपनी पूज्यनीया माताजी तथा बड़े लोगों से आज्ञा लेकर उन्होंने गृहस्थ आश्रम में प्रवेश किया।

महाप्रभु के विवाह की चर्चा सुनकर भारतवर्ष के कोने-कोने से उनके शिष्य इस महान् उत्सव में सम्मिलित होने के लिए काशी आ गये। शुभ मुहूर्त में बड़े उत्साहपूर्ण वातावरण में विवाह कार्य सम्पन्न हुआ। उनकी माताजी की प्रसन्नता का वारापार नहीं रहा। सुन्दर और सर्वगुण सम्पन्न पुत्रवधू पाकर उनका रोम-रोम पुलकित हो गया। भगवान् को अवतार देने वाली देवी इल्लमा उन माताओं से भिन्न थीं, जो केवल गृहस्थी की चिन्ता और व्यवस्था में अपना जीवन व्यतीत कर देती हैं। साधारण कोटि की मातायें अपने बच्चों का पालन-पोषण करके उन्हें बड़ा करती हैं, विवाह करती हैं और फिर-पोते-पोतियों से परिपूर्ण घर को हरा-भरा देखना चाहती हैं। यदि बहू के संतान होने में कुछ विलम्ब हुआ, तो देवी-देवताओं की मनौतियाँ प्रारम्भ कर देती हैं। यह मातृत्व का सहज स्वभाव है।

देवि इल्लमा का स्वभाव इससे थोड़ा भिन्न था अथवा समय और परिस्थित के कारण जीवन को दूसरे दृष्टिकोण से देखने का हो गया था। उनके पति जीवन पर्यन्त पूजा अर्चना में लगे रहे—गृहस्थ होते हुए भी उदारमना महात्मा का जीवन व्यतीत किये। पुत्र ने बालपन में ही अपने को श्रीगोपालनन्दन को अर्पित कर दिया और अपनी अलौकिक प्रतिभा और अद्भुत ईश्वरीय शक्ति से बहुत थोड़े समय में श्रीभागवत धर्म की ध्वजा स्थायी रूप से फहराकर स्वयं भी लोकप्रतिष्ठित एवं पूजनीय हो गया। विजयनगर के धर्म सम्मेलन में अपने बेटे की ईश्वरीय प्रतिभा का प्रभाव उन्होने स्वयं अपनी आंखों से देखा था। वहां उपस्थित विभिन्न सम्प्रदाय के पंडितों पर विजय प्राप्त कर वल्लभाचार्य ने जो अलौकिक यश अर्जन किया, उससे वे खूब अच्छी तरह परिचित थीं—विजयनगर का नागरिक अभिनन्दन और वहां के राजा कृष्णदेव द्वारा महाप्रभु का कनकाभिषेक उनकी आंखों के सामने हुआ था। किसी माता के गौरव और गरिमा को बढ़ाने के लिए उसके पुत्र की इतनी लोक प्रतिष्ठा और मान्यता क्या कम है?

देवि इल्लमा अपने पुत्र की लोक मान्यता और भगवान् में उनके प्रेम से परम संतुष्ट थी। वे जानती थीं कि उन्होंने किसी साधारण बालक को अपनी कोख में धारण नहीं किया था। इसलिए उनका स्वभाव साधारण माताओं से भिन्न था। किन्तु जब महाप्रभु के विवाह का विधान बन गया, तो उन्होंने परमानन्द का अनुभव किया। वे अत्यन्त प्रसन्न हुईं और अपने भाग्य को सराहा।

विवाह के पश्चात् महाप्रभु छः महीने काशी में रहे और अपने शिष्यों को नियमित रूप से श्रीभागवत कथा का उपदेश देते रहे। अपने मन के अनुरूप भार्या पाकर वे परम् सन्तुष्ट थे। सभी शुभ लक्षणों से युक्त उनकी पत्नी हर प्रकार से महाप्रभु के कार्यों में योगदान करने के लिए उत्सुक रहती थीं।

महाप्रभु ने अब तीसरी बार तीर्थों की प्रदक्षिणा करने के संकल्प से काशी से प्रस्थान किया। वे सर्वप्रथम वैद्यनाथजी गये। वहीं पर एक दिन भगवान् ने प्रकट होकर उनसे कहा—"ब्रज में जाकर मेरी पूजा और सेवा का प्रकार निश्चित कीजिए।" भगवान् की इस दिव्य आज्ञा को शिरोधार्य करके महाप्रभु अपने शिष्यों समेत ब्रज में आ गये।

●

ब्रजवासी वल्लभाचार्य

वैद्यनाथजी का दर्शन पूजन करके महाप्रभु ब्रजमण्डल की ओर चल पड़े। ब्रज की यात्रा करते समय उनके मन में परम उत्साह और उमंग था। वे उस भूमि में जा रहे थे, जिसकी धरती स्वयं भगवान् कृष्ण ने अवतरित होकर अनेक लीलायें की थीं और जिसकी पवित्र धूल शरीर में लग जाने से अनेक पापों से सहज ही में छुटकारा मिल जाता है। रास्ते के तीर्थों और पवित्र स्थानों को देखते और भगवद्भक्ति का प्रचार करते हुए कुछ ही दिनों में महाप्रभु ब्रज की पवित्र धरती पर पहुँच गये। अपने शिष्यों समेत भगवान् का कीर्तन गायन करते महाप्रभु जब ब्रज में पहुँचे, तो वहाँ आनन्द की लहर दौड़ गई। हजारों की संख्या में लोग उनका दर्शन करने के लिए दौड़ आये। भक्तों की भीड़ लग गई।

ब्रजवासियों से श्रीकृष्ण की बाल-लीलायें सुनकर वल्लभाचार्य आनन्द विभोर हो जाते थे और उनकी आंखों से प्रेमाश्रु बहने लगता था। गिरिराज गोवर्धन, जिनकी पूजा की व्यवस्था स्वयं भगवान् की प्रेरणा और इच्छा से हुई थी, अपने को उनके समीप में पाकर महाप्रभु बहुत प्रसन्न थे। गिरिराज गोवर्धन की पूजा के सम्बन्ध में एक परम पुनीत कथा श्रीमद्भागवत् में कही गई है। वह कथा बहुत ही आनन्ददायक और साथ ही उद्देश्यपूर्ण है।

कार्तिक मास में अन्नकूट के पर्व पर ब्रज में इन्द्र की सामूहिक पूजा की परम्परा अतीत काल से चली आती थी। वह पूजा ब्रजवासी इन्द्र के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करने के लिए करते थे। इन्द्र वर्षा के स्वामी हैं, उचित वर्षा से अनाज और घास की पैदावार होती है, जिससे मनुष्यों एवं गायों, सबका जीवन निर्वाह होता है। इसलिए वर्ष में एक दिन इन्द्र की पूजा होनी चाहिए, इस विचार से ब्रजवासी अन्नकूट के दिन इन्द्र की पूजा अनन्त काल से करते आ रहे थे।

भगवान् तो अन्तर्यामी हैं। उन्हें ज्ञात हो गया कि इन्द्र को इससे अभिमान हो गया है। भगवान् भक्तों का अभिमान चूर कर देते हैं। क्योंकि वे भक्तों का कल्याण करने वाले हैं। अभिमानी अथवा अहंकारी व्यक्ति में विवेक और सद्विचार का अभाव हो जाता है, उसे उचित अनुचित का ज्ञान नहीं रह

जाता। अपने किसी भक्त के हृदय से अहंकार के अंकुर को समूल नष्ट करने के लिए भगवान् को कभी-कभी अप्रिय कार्य भी करने पड़ जाते हैं। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए भगवान् के मन में यह विचार आया कि इन्द्र के मन की गलत धारणा दूर होनी चाहिए कि वे वर्षा के स्वामी हैं।

परम्परा से चली आ रही प्रथा के अनुसार कार्तिक में अन्नकूट के दिन ब्रज में घर-घर पूजा की तैयारी धूम-धाम से हो रही थी। गली-कूचे, जिधर भी जाइये, घी की सुगन्ध से सम्पूर्ण वायुमण्डल प्रभावित था। कहीं से खेलते हुए गोपालनन्दन श्रीकृष्ण जी, नन्द जी के पास पहुँचे और उनसे पूछा—"बाबा जी ! आज घर-घर में पूड़ी-पकवान बनाया जा रहा है। जिधर जाओ, उधर से घी की सुगन्ध आ रही है। खीर और नाना प्रकार की मिठाइयाँ तैयार की जा रही हैं—आज क्या कोई विशेष पर्व है ?"

प्रेमपूर्वक बालक गोपालनन्दन को अपनी गोद में बैठा कर बड़े स्नेह से उनके सिर पर अपना हाथ फेरते हुए नन्द बाबा ने सविस्तार पूजा की तैयारी के सम्बन्ध में बताया। उनकी बातें सुनकर गोपालनन्द ने कहा—"बाबा जी ! भला वर्षा के लिये इन्द्र की पूजा क्यों ? यह सब तो ईश्वर के अधीन है। इससे तो अच्छा यह होगा कि आप लोग गोवर्धन की पूजा करें। उस पर उगी हरी-हरी घासों को चरकर अपनी गायें दूध देती हैं और कभी-कभी अधिक वर्षा के कारण ग्वाल बाल वहीं जाकर विश्राम कर लेते हैं।"

श्रीकृष्ण ने ऐसे ढङ्ग और युक्ति से ये बातें कहीं कि वे नन्द बाबा को भा गईं। उन्होंने ब्रजमण्डल में सूचना घुमवा दी कि सभी गोप आज गिरिराज की पूजा करने चलेंगे। सूचना मिलते ही सभी लोग तैयार की गई सामग्री अपनी-अपनी बैलगाड़ियों पर रखकर गिरिराज की ओर चल पड़े। मध्यान्ह में गिरिराज की पूजा हुई और उन्होंने प्रकट होकर पूजा स्वीकार की। इसके बाद उपस्थित गोप, गोपियों एवं ग्वालबाल ने प्रसाद ग्रहण किया।

जब इन्द्र को यह सूचना मिली तो वे बहुत असन्तुष्ट हुए। उन्होंने अपने प्रधान गण श्यामवर्तक को बुलाकर कहा—"ब्रज में ऐसी मूसलाधार वर्षा करो, जिससे सम्पूर्ण ब्रजमण्डल में पानी ही पानी दिखने लगे और गोपों को सिर छिपाने तक का भी आश्रय कहीं न मिले।"

इन्द्र के कोप के परिणाम स्वरूप सात दिनों तक ब्रज में मूसलाधार वर्षा होती रही। जमुना में बाढ़ आ गई। सरोवर और बावलियां भर गईं। लेकिन गोपों एवं ग्वालबालों का कुछ न बिगड़ा। भगवान् ने गिरिराज को अपनी भुजा

के बल उठाये रखा और सभी ब्रजवासी उसके नीचे उनकी महिमा का गुणगान करते हुए आनन्दपूर्वक सब लीला देखते रहे।

जब महाप्रभु ब्रज में पहुँचे तो गोपों ने उन्हें बताया कि जिस भुजा से भगवान् श्रीकृष्ण ने गिरिराज को धारण किया था, कालान्तर में गिरिराज पर वही भुजा प्रकट हुई। सर्वप्रथम उस भुजा का दर्शन परम भाग्यवान् सद्दू पांड़े को हुआ था।

सद्दू पांड़े ने स्वयं महाप्रभु को बताया—'मेरे पास एक परम सुन्दर, सब लक्षणों से युक्त गाय है। सब गायों के साथ प्रातः चरने जाती थी और सायंकाल सबके साथ लौट आती थी। बहुत दूध देती थी। लेकिन कुछ दिनों बाद उसके स्वभाव में अभूतपूर्व परिवर्तन हो गया। वह दिन भर सब गायों के साथ ढेर में रहती थी, किन्तु जब दिन ढलने लगता, तो वह सब से अलग हो जाती और बहुत विलम्ब से अकेले घर लौटती थी। उस गाय ने दूध देना बन्द कर दिया।"

उन्होंने आगे बताया—"मुझे ऐसा लगा कि कोई चोरी से मेरी गाय को दुह लेता है। इसलिए मैं एक दिन गाय के साथ-साथ दिन भर रहा। संध्या होने लगी तो देखता हूँ कि वह गाय अन्य गायों से अलग होकर गिरिराज की ओर जाने लगी। मैं भी उसके पीछे-पीछे उसी तरफ बढ़ा। थोड़ी देर में गाय ऊपर चढ़ गई। तब तक मैं भी उसके पास तक पहुँच गया था। महाराज! इसके बाद जो अलौकिक दृश्य मैंने देखा, सहसा अपनी आँखों पर विश्वास नहीं हुआ। एक भुजा आसमान की ओर उठी हुई थी और गाय पास में खड़ी होकर अनवरत धार से दूध गिरा रही थी। यह सब कुछ देखकर मैं आवाक रह गया।"

सद्दू पांड़े यह सब कहते जा रहे थे और महाप्रभु अपने शिष्यों एवं अन्य उपस्थित व्यक्तियों समेत मंत्र मुग्ध होकर सब बातें सुन रहे थे। सद्दू पांडे ने बताया "उस भुजा को दूध पिला लेने के बाद मेरी गाय पर्वत के नीचे उतर आई और अपने घर आ गई। यह उसका नित्य का काम हो गया था।"

वस्तुतः इस भुजा का आविर्भाव ठीक उसी दिन हुआ था, जिस दिन चम्पारण्य में वल्लभाचार्य का जन्म हुआ था। जब सद्दू पांडे ने यह अलौकिक दृश्य देखा, तो गांव वालों को उन्होंने सारी कथा बतलायी थी। जो भी यह कथा सुनता, वही सब काम-काज छोड़कर गिरिराज पर्वत पर जाकर उस परम पुनीत भुजा का दर्शन करता। इस प्रकार वहां ब्रजवासियों का भारी मेला सा-लगा रहता।

सदू पांडे को एक दिन गोपाल नन्दन श्रीकृष्ण ने दर्शन दिया और कहा — "तुम्हारी इस गाय का दूध मुझे बहुत प्रिय है। मेरे लिए नित्य उसी का दूध लाओ।" जब वह गाय गाभिन हुई और दूध देना बन्द कर दिया तो पांडे जी दूसरी गाय का दूध लेकर सेवा में उपस्थित हुए। लेकिन दूसरी गाय का दूध भगवान् ने स्वीकार नहीं किया। उन्हें स्वप्न हुआ कि "श्रीनन्द राय जी के गायों के कुल की एक गाय कल तुम्हारे गो-समूह में आयेगी। वह जमुनावती गांव के धर्मदास की गाय है। जब तक तुम्हारी गाय दूध नहीं देती, तब तक मैं इसी गाय का दूध पीऊँगा।"

गोपालनन्दन की इच्छानुसार वह गाय सदू पांडे के ढेर में आ गई और सन्ध्या होते ही भुजा के समीप जाकर उसे दूध पिलाने लगी। इस प्रकार दूध पिलाकर वह गाय कहीं अन्यत्र न जाकर वहीं बैठ गई। समय पर उस गाय को घर पहुँचा न देखकर धर्मदास अपने भतीजे कुम्मनदास को लेकर उसकी खोज में निकले। वे लोग घूमते-घामते गिरिराज पर पहुँचे।

श्री गोपालनन्दन ने तत्काल उन दोनों व्यक्तियों को प्रेरणा दिया कि "मैं इस गिरिराज पर्वत पर अवतरित हो गया हूँ। तुम इस गाय को घर ले जाने का प्रयत्न न करो। इसे सदू पांडे की ढेर में भेज दो। धर्मदास और कुम्मनदास ने भगवान् को साष्टांग प्रणाम किया और अपनी गाय को सदू पांडे की ढेर में भेजकर चले गये।

कुछ समय तक भगवान् की केवल एक भुजा ऊपर को उठी दिखाई देती रही। अन्य कोई अंग नहीं दिखता था। कुछ व्यक्तियों ने विचार किया— जमीन की मिट्टी निकालकर पूरी मूर्ति को ऊपर लाना चाहिये। उसी समय एक अज्ञात तपस्वी वहां प्रकट हो गये और लोगों को सम्बोधित करते हुये कहा— "जो कुछ होता है, ईश्वर की इच्छा से होता है और उसके पीछे कोई न कोई भगवत इच्छा रहती है। अतः आप लोग इस मूर्ति को ऊपर लाने की कोशिश न करें। समय आने पर भगवान् स्वयं पूर्ण रूप में प्रकट होंगे।" और सचमुच ऐसा ही हुआ। कुछ समय बाद उस मूर्ति का मुख प्रकट हुआ। मूर्ति का मुख प्रकट होने से ब्रजवासी बहुत हर्षित और आनन्दित हो उठे।

जिन दिनों महाप्रभु वल्लभाचार्य वैद्यनाथ धाम में थे, उन्हीं दिनों उन्हें भगवान् ने आदेश दिया—"मैं गिरिराज गोवर्धन पर अलक्ष्य रूप से प्रकट हूँ। आप वहाँ जाकर मुझे पूर्ण रूप से प्रकट करें। मेरी पूजा की विधि निर्धारित कीजिए।" भगवान् का यह आदेश शिरोधार्य कर महाप्रभु मथुरा आये और

ब्रज में जाकर भगवान् की अनेक लीला कथाएँ सुने। जिस समय सदू पांडे गोपालनन्दन की लीला कथा का रसास्वादन करा रहे थे, महाप्रभु परमशान्ति चित्त से कथा सुनते जाते थे और उनकी आंखों से आंसू की अविरल धारा बह रही थी। फिर सब लोगों ने भगवान् के नामों का कीर्तन करते हुए गिरिराज की ओर प्रस्थान किया। बहुत बड़ा जन समूह साथ-साथ चल रहा था। भगवत् नामों के उच्चारण और जयघोष से सारा ब्रजमण्डल आनन्दित हो रहा था। उस जन समूह का नेतृत्व सदू पांड़े कर रहे थे और उनके पीछे-पीछे महाप्रभु और उनके शिष्य गण थे।

जब महाप्रभु उस स्थान पर पहुँचे तब श्रीनाथजी की पूर्णमूर्ति का दर्शन हुआ। प्रसन्नता के कारण जयघोष से आकाश पाताल एक हो गया। महाप्रभु का प्रभाव ब्रजवासियों को ज्ञात हो गया। कई दिनों तक गिरिराज पर मेला लगा रहा। आज भी नागपंचमी के दिन यहां मेला लगता है और कई हजार ब्रजवासी श्रीनाथजी के दर्शनों के लिए आते हैं।

श्रीनाथजी की मूर्ति के पूर्णरूप से प्रकट होने के बाद कुछ काल तक महाप्रभु ने ब्रजमण्डल में निवास किया। उन्होंने श्रीनाथजी के लिए एक मन्दिर का निर्माण करवाया और भगवान् की पूजा की विधि निश्चित किया। लेकिन श्रीनाथजी जैसे महिमामय भगवान् के लिए एक साधारण सा मन्दिर बनवाकर महाप्रभु को सन्तोष नहीं था। वे मन ही मन एक बड़े मन्दिर के निर्माण के लिए विचारमग्न रहे और श्रीनाथजी की पूजा पद्धति के विस्तार पर विचार करते रहे।

•

महाप्रभु के पुत्र-रत्न

भगवान् विश्व के नियंत्रक हैं और उन्हीं की प्रेरणा और इच्छा से संसार के सभी कार्य होते हैं। श्रीनाथजी की प्रेरणा से गिरिराज पर्वत पर जो साधारण मन्दिर बनवाया गया, उससे महाप्रभु को सन्तोष नहीं था। भगवान् तो अन्तर्यामी हैं—सबके मन की बात जानते हैं। वे महाप्रभु के इस मानसिक दुख का कारण जान गये। वल्लभाचार्य एक विशाल मन्दिर बनवाना चाहते थे, किन्तु इसके लिए उनके पास धन का अभाव था। रुपये आयें कैसे? कभी धन संग्रह की इच्छा उनके मन में उठी ही नहीं। विजयनगर से राजा श्रीकृष्णदेव राय ने अपार सम्पत्ति महाप्रभु की सेवा में अर्पित किया था। जिसे उन्होंने वहाँ उपस्थित पंडितों एवं विद्वानों में इस तरह बँटवा दिया था, जिस तरह कथा के बाद प्रसाद वितरित किया जाता है।

श्रीनाथजी की प्रेरणा से गिरिराज पर्वत पर जब मन्दिर बनाने का संकल्प हुआ तब धन की कमी थी। लेकिन ब्रजवासियों के उत्साह से एक मन्दिर बन गया। किन्तु साक्षात् जगदीश्वर का मन्दिर इतना साधारण बने, इसको लेकर उनके मन में पीड़ा बनी रही। भगवान् महाप्रभु के हृदय से इस पीड़ा को निकालना चाहते थे। कहा जाता है कि भगवान् की जिस समय जैसी इच्छा होती है, उसके लिए वैसे ही उपकरण उपस्थित हो जाते हैं। इसे संयोग कहा जाय, अथवा भगवत् इच्छा, एक दिन अम्बाला के एक सेठ पूरणमल महाप्रभु के दर्शन के लिए आये और मन्दिर के निर्माण के लिए एक लाख रुपये देने को कहा। महाप्रभु को इससे बड़ी प्रसन्नता हुई और उन्होंने सेठ पूरणमल को मन्दिर बनवाने की आज्ञा दे दी। सेठ ने विचार-विमर्श के बाद मन्दिर के निर्माण का कार्य प्रारम्भ किया। विशाल मन्दिर की योजना में सेठ ने एक लाख रुपये व्यय किये, किन्तु मन्दिर पूरा न हो सका।

पूरणमल उत्साही और लगन वाले व्यक्ति थे। वे दक्षिण भारत गये और वहाँ से बहुत बड़ी धनराशि अर्जित करके पुनः लाये। मन्दिर का निर्माण कार्य पूरा हो गया। उसे तरह-तरह के बेलबूटे और चित्रकारी से आकर्षक बनाया गया और फिर एक शुभ दिन और मुहूर्त में श्रीनाथजी को उसमें प्रतिष्ठित किया गया।

कई वर्ष तक व्रज में निवास करने के बाद श्रीनाथजी के पूजन आदि की पूर्ण व्यवस्था करके और उनकी आज्ञा लेकर वल्लभाचार्य काशी लौट गये। वहीं पर उनकी पत्नी श्रीमती महालक्ष्मी की परम पवित्र कोख से श्री गोपीनाथ का जन्म हुआ। इसके दो वर्ष बाद स्वयं भगवान् श्री विट्ठलेशजी ने महाप्रभु के पुत्र के रूप में जन्म लिया। उनका मन आनन्द से भर गया। दूसरे पुत्र का नाम उन्होंने विट्ठलेश ही रखा। कुछ बड़े होने पर इन बच्चों की विधिवत शिक्षा-दीक्षा की व्यवस्था की गई। उन्हें श्री भागवत् सम्प्रदाय के अनुरूप शिक्षा दी गई और समय आने पर वे अपने पूज्य पिता के आशीर्वाद और प्रभाव से सर्व-गुण सम्पन्न विद्वान हुए। सभी वेदशास्त्रों का विधिवत ज्ञान उन्हें था। बहुत छोटी उम्र में अपनी अद्‌भुत और अलौकिक प्रतिभा से सब को चकित कर देने वाली उन बालकों की वरदायिनी वाणी से भक्ति और श्रद्धा की अविरल धारा प्रवाहित होती थी। अपने पुत्रों के इस विलक्षण गुण को देखकर महाप्रभु आनन्द से पुलकित हो जाते थे। महाप्रभु स्वयं अवतारी पुरुष थे—किसी लौकिक सुख के प्रति उनकी कभी इच्छा न होती थी। उनका सारा जीवन भगवद्‌मय था। उनका अवतार संसार में लौकिक सुख भोगने के लिए नहीं, वरन् संसार के दुःखी लोगों को सुख का मार्ग दिखाने के लिए हुआ था। अतः अपने इन दोनों पुत्रों को अपने अनुरूप पाकर उन्हें हार्दिक प्रसन्नता थी।

काशी में रहते हुए महाप्रभु नियमित धर्म का उपदेश करते एवं श्रीभागवत पुराण का पारायण करते थे। उनके कथा-प्रवचन में सहस्रों लोग सम्मिलित होते थे। उनकी दिनों-दिन बढ़ती कीर्ति और प्रभाव से मुल्लाओं को बड़ी जलन होती थी और वे मुसलमान शासकों को उनके खिलाफ उकसाते रहते थे। लेकिन महाप्रभु की दिव्य कान्ति और ईश्वरीय शक्ति के सामने सभी को नतमस्तक होना पड़ता था। उनके प्रत्यक्ष विरोध की शक्ति किसी में नहीं थी।

काशी निवास के समय महाप्रभु को एक दिन स्वप्न हुआ—"आप व्रज में लौट आवें। आपकी अनुपस्थिति से मेरी पूजा में शिथिलता आ गई है।" अपनी शिष्य मण्डली और स्वजनों के साथ महाप्रभु गिरिराज गोवर्धन दर्शन के लिए चल पड़े। मार्ग में उन्होंने प्रयाग में त्रिवेणी तट पर अरैल ग्राम में कुछ काल तक निवास किया।

उन दिनों महाप्रभु चैतन्यदेव जी भी यहाँ आ गये थे। प्रयाग के संगम तट पर भक्ति धारा के इन दो महान सन्तों का संगम एक अलौकिक घटना थी। इससे लोगों में बहुत उत्साह और धर्माचरण के प्रति जागृति पैदा हो गई थी। गंगा, यमुना और अलक्ष्य सरस्वती के इस पुनीत संगम तट पर यों ही वर्ष भर देश के कोने-कोने से यात्री स्नान और दर्शन के लिए आया करते हैं। वल्लभाचार्य और चैतन्यदेव, इन दोनों महाप्रभुओं के प्रयाग निवास की सूचना प्राप्त कर, इनके भक्तों एवं प्रेमियों की भीड़ लग गई। ये दोनों युग प्रवर्तक अवतारी महापुरुष थे और इन दोनों ने भक्तिधारा को ऐतिहासिक मोड़ दिया था। इन दोनों की भक्ति रस से सराबोर प्रेमपूर्ण वाणी से शताब्दियों से सदा सुगन्धित और दिव्य वातावरण वाला संगम तट और भी अधिक सुगन्धित और दिव्य हो उठा।

प्रयाग की इस पुनीत धरती पर प्राचीन काल से ही ऋषि-मुनियों तथा साधु-सन्तों का समागम और संगम होता आया है। त्रिवेणी के संगम तट की पवित्रता और शोभा देखने की अपनी जिज्ञासा देवता भी संवरण नहीं कर पाते—औरों की तो बात ही क्या? लेकिन वल्लभाचार्य और चैतन्य महाप्रभु का जैसा समागम संगम तट पर हुआ था, वैसा कभी-कभी ही होता है और वह भी कई शताब्दियों में केवल एक बार। इसी प्रकार का एक संगम आठवीं शताब्दी में भी हुआ था—जब शंकराचार्य जी कुमारिल भट्ट से यहाँ मिले थे। उस समय कुमारिल भट्ट छद्मरूप से बौद्धों के संघ में प्रवेश करके, शिक्षा प्राप्त करने एवं अपने बौद्ध गुरुओं की आलोचना करने के कारण प्रायश्चित स्वरूप धान की भूसी की अग्नि में अपने प्राण की आहुति दे रहे थे। उस संगम में उत्साह का अभाव था, लेकिन धार्मिक एवं ऐतिहासिक दृष्टिकोण से बहुत महत्वपूर्ण था। वल्लभाचार्य और चैतन्यदेव का मिलन अलौकिक था। कुछ दिनों के प्रेम और भक्तिपूर्ण समागम के पश्चात् वल्लभाचार्य व्रज की ओर और चैतन्यदेव पुरी की ओर प्रस्थान किये।

वल्लभाचार्य जी के पहुँचने पर व्रज में आनन्द की लहर दौड़ गई। भक्तों की अपार भीड़ उमड़-उमड़ कर आने लगी। पेड़ों एवं जंगलों में हरीतिमा छा गई और लतायें फूलों से लद गई। मन्दिर यों ही शोभा और आभा के स्थान होते हैं—लेकिन महाप्रभु की उपस्थिति से श्रीनाथ जी को विशेष प्रसन्नता एवं सन्तोष हुआ, इसका प्रत्यक्ष आभास उनकी मूर्ति के दर्शन से ही हो जाता था।

गिरिराज गोवर्धन पहुँचते ही महाप्रभु ने श्रीनाथजी की पूजा का सम्पूर्ण कार्य अपने हाथ में ले लिया। कथा-कीर्तन का कार्य सदा चलता रहता था। महाप्रभु के आगमन की सूचना पाकर उनके शिष्य आने लगे। सेठ पूरणमल भी आये। उन्होंने श्रीनाथजी के मन्दिर में प्रवेश कर पूजा करने की आज्ञा चाही। महाप्रभु ने उनकी लगन और भक्तिपूर्ण आग्रह देखकर आज्ञा दे दी। अपने हाथों चन्दन और सुगन्धित पवित्र वस्तुओं से श्रीनाथजी की पूजा अर्चना करके सेठ पूरणमल परम प्रसन्न और सन्तुष्ट हुए। इसके बाद उन्होंने महाप्रभु को साष्टांग प्रणाम किया। महाप्रभु ने सेठ पूरणमल को आशीर्वाद देते हुए कहा—"जब तक संसार में चन्द्र और सूर्य हैं, तब तक तुम्हारा यश बना रहेगा।"

●

महाप्रभु द्वारा संन्यास ग्रहण

मानव जीवन की उपयोगिता क्या है—विवेकी मनुष्यों के मानस पटल पर यह प्रश्न बार-बार अथवा जीवन में अनेक बार आता है। इसका उत्तर हम स्वयं अपने आप दे सकते हैं। हमने अपने जीवन में कितनी सफलता अर्जित की—इस प्रश्न के उत्तर का आधार यही है। लेकिन मुख्य प्रश्न यह है कि हम सफलता किसे कहें—धन-दौलत अर्जन को—अथवा हमारे जीवन से समाज को क्या लाभ हुआ, इसको ? वस्तुतः मनुष्य जीवन की सफलता का मूल्यांकन, उसके बौद्धिक एवं चारित्रिक स्तर के साथ-साथ, उनमें निहित सार्वजनिक कल्याण की भावना के आधार पर होता है।

सेठ पूरणमल बहुत प्रसन्न थे। उनके हृदय में अपार शान्ति विराज रही थी। उन्होंने अपने जीवन के अर्जन का एक बहुत बड़ा भाग गिरिराज गोवर्धन पर श्रीनाथजी के मन्दिर निर्माण पर खर्च किया था। हजारों की संख्या में लोग प्रत्येक दिन भगवान् के दर्शन हेतु उस मन्दिर में आते थे। वह मन्दिर एक स्थायी महत्व की वस्तु हो गया था। भगवान् की पूजा अर्चना की वहाँ विधिवत व्यवस्था थी। जो दर्शनार्थी आते, मन्दिर के निर्माण कला की भी प्रशंसा करते नहीं अघाते थे। वहाँ आने पर उनकी आँखें उस सुन्दर विशाल मन्दिर की वस्तु कला को देखकर तृप्त हो जाती थीं। वहाँ लौकिक और पारलौकिक दोनों आनन्द प्राप्त होता था। यह सब देख-देखकर सेठ पूरणमल परम प्रसन्न होते थे। उनकी प्रसन्नता को शब्दों की सीमा में आबद्ध करना सम्भव नहीं है। क्या लाखों-करोड़ों की सम्पत्ति अर्जित करने वाले उस व्यक्ति को, जो जीवन भर स्वार्थपूर्ण कार्यों में लगा रहा हो और अपने परिवार की सीमा के बाहर की दुनियाँ का हित चिन्तन कभी नहीं किया, अपनी अतुल सम्पत्ति को देखकर कभी वैसा उल्लास और आत्मिक आनन्द प्राप्त हुआ होगा, जैसा उस व्यक्ति को होता है, जिसकी दृष्टि में सार्वजनिक हित, व्यक्तिगत स्वार्थ की अपेक्षा हर हालत में श्रेष्ठ होता है ?

उत्तर स्पष्ट है। परोपकारी और 'बहुजन हिताय बहुजन सुखाय' के सिद्धान्त में आस्था और विश्वास रखने वाले व्यक्ति अपने जीवन और इसके बाद भी समाज द्वारा सम्मानित होते हैं और स्वार्थ में पड़े लोगों की स्थिति इसके विपरीत होती है।

श्रीनाथ जी के मन्दिर निर्माण और भगवान् को मन्दिर में प्रतिष्ठित करके वल्लभाचार्य जी भी परम सन्तुष्ट थे। भगवान् की पूजा आगे भी अबाध गति से चलती रहे, इसकी भी व्यवस्था हो चुकी थी। इससे महाप्रभु के मन में बड़ी शान्ति थी। वे कुछ दिनों के लिए उन स्थानों में जाकर, जहाँ-जहाँ उनकी प्रेरणा से मन्दिरों का निर्माण प्रारम्भ हुआ था, उनकी प्रगति देखना चाहते थे। संयोग से सेठ पूरणमल ने महाप्रभु को अम्बाला चलने के लिए निमन्त्रित किया। वे तत्काल तैयार हो गये। अम्बाला में महाप्रभु का बहुत अच्छा स्वागत-सत्कार हुआ। वहाँ से उन्होंने राजस्थान एवं गुजरात की भी यात्रायें कीं। गुजरात में श्रीभागवत सम्प्रदाय की प्रगति पर उन्हें बहुत सन्तोष और प्रसन्नता थी। बहुत थोड़े समय वहाँ निवास के बाद वे ब्रज में लौट आये।

श्री वल्लभाचार्य जी परम मर्यादित एवं धर्मात्मा महापुरुष थे। किसी प्रकार की तिलिस्मी अथवा चमत्कारिक कार्य से उनका कोई लगाव नहीं था। लेकिन ऐसे सत्पुरुषों के जीवन में भी कभी-कभी इस प्रकार के अवसर आ जाते हैं, जब थोड़े बहुत चमत्कारिक कार्य करने पड़ते हैं।

श्री वैद्यनाथधाम से जब महाप्रभु प्रथम बार मथुरा पहुँचे, तो लोगों ने उन्हें बताया कि "मुसलमान शासकों द्वारा हिन्दू लोगों पर बहुत अत्याचार हो रहा है। विश्राम घाट पर एक मुसलमान शासक ने एक ऐसा यन्त्र लटका दिया है कि जो हिन्दू उस घाट पर स्नान करने जाता, उसकी चोटी उस यन्त्र के प्रभाव से कट जाती है और उसे दाढ़ी उग आती है।" वास्तविक बात यह थी कि उन दिनों लोगों को तरह-तरह के आतंक और छल से धर्म परिवर्तन के लिए विवश किया जाता था।

महाप्रभु ने हिन्दुओं का यह आर्तनाद सुनकर अपने एक शिष्य को अभिमंत्रित मंत्र लिखकर दिया और उसे विश्राम घाट पर लटका देने को कहा। उस मन्त्र के प्रभाव से मुसलमानों की दाढ़ी का सफाया हो जाता था और उसके स्थान पर चोटी उग आती थी। बादशाह इब्राहिम लोदी के सभासदों ने उसे

जब इस चमत्कारी घटना की सूचना दी, तब उसने अपने आदमियों से हिन्दुओं को जबरदस्ती धर्म परिवर्तन न करने का आदेश दे दिया।

महाप्रभु वल्लभाचार्य वस्तुतः भक्ति-स्वरूप ही थे। उनके द्वारा स्थापित श्रीकृष्ण भक्ति की धारा आज भी अबाध गति से प्रवाहित हो रही है। वे यह अच्छी तरह जानते थे कि धर्मलता भक्ति रूपी अवलम्ब के बिना दिशाहीन हो जायेगी। अतः किसी मत-मतान्तर को उलझन में पड़े बिना, उन्होंने भक्ति का मार्ग अपनाया और जीवन भर उस पर अडिग रहकर आगे बढ़ते रहे। अपने जीवन के अन्त के समीप पहुँचने पर जब अपने कार्यों पर उन्होंने एक विहंगम दृष्टिपात किया, तो उन्हें बहुत संतोष था। उन्हें ऐसा अनुभव हुआ कि जिस कार्य के लिए उनका जन्म हुआ था, वह पूरा हो चुका है।

इस संतोष के साथ उनमें अत्यधिक गम्भीरता आ गई। वे शान्त और स्थिर हो गये। श्रीनाथ जी की पूजा का कार्य भार योग्य और अधिकारी शिष्यों को सौंप दिया। उन्होंने संन्यास लेने का निश्चय किया। इसके लिये पत्नी से आज्ञा लेना अनिवार्य था। अतः एक दिन श्रीमती महालक्ष्मी जी को सम्बोधित करते हुए उन्होंने कहा—"देवि! मैंने गृहस्थाश्रम का भली-भाँति पालन कर लिया है। भगवान् की कृपा से हमारे दो सन्तान भी हैं, जो गोत्र वृद्धि करके पितरों को सन्तुष्ट करेंगे। अब मैं दूसरे आश्रम में प्रविष्ट होना चाहता हूँ। इसलिये अब तुम मुझे संन्यास ग्रहण करने की आज्ञा दो।"

देवि महालक्ष्मी को साक्षात् देवरूप अपने पति के इस निश्चय से बहुत दुःख हुआ। किन्तु उन्होंने पति के मार्ग में किसी प्रकार का गतिरोध उत्पन्न नहीं किया। वल्लभाचार्य से उन्होंने सदा सहयोग करके, धर्म एवं निष्ठापूर्वक सच्चे अर्थों में सहधर्मिणी के कर्तव्य का पालन किया था। अब जीवन के सन्ध्याकाल के समीप पहुँचकर भला वे मुखर कैसे होतीं? अतः इसे भगवान की इच्छा और प्रेरणा जानकर उन्होंने 'मौन स्वीकृति लक्षणम्' के अनुसार अपनी सहमति दे दी।

महाप्रभु वल्लभाचार्य के संन्यास ग्रहण करने के निश्चय की बात देश के कोने-कोने में स्थित उनके शिष्यों को ज्ञात हुई। संन्यास आश्रम दो प्रकार का होता है। पहले में शिखा-सूत्र छोड़कर दंड धारण करके भगवान का ध्यान किया जाता है। दूसरे में परिवार से अलग होकर शिखा-सूत्र धारण करते हुए एकान्त भक्ति की व्यवस्था है। परम भागवत होने के कारण महाप्रभु ने इस दूसरे प्रकार

के संन्यास को स्वीकार किया। उन्होने काषाय वस्त्र के साथ शिखा-सूत्र और त्रिदंड धारण किया और इस आश्रम की मर्यादा के अनुसार अपना नाम पूर्णानन्द रखा।

उनके इस दिव्य रूप दर्शन के लिए उनके बहुत शिष्य वहाँ दूर-दूर से आ पहुँचे। संन्यास ग्रहण करने के बाद छः दिनों तक तो वे अपने परिवार में ही भोजन करते रहे। इसके बाद काशी में गंगातट पर आ गये और नियमानुसार भिक्षान्न ग्रहण करने लगे।

भगवान वल्लभाचार्य का यह दिव्य रूप देखने के लिए हजारों नर-नारी गंगा तट पर चौबीसों घंटे बैठे रहते और भजन कीर्तन करते रहते थे। यह वैसा ही दिव्य दृश्य था, जिसका वर्णन हमें शास्त्रों-पुराणों के पवित्र आख्यानों में मिलता है।

•

महाप्रभु का लीला प्रवेश

यह प्रकृति का नियम है, जो जन्म लेता है, वह मरता है। मरने की बात सबको ज्ञात रहती है—केवल समय का ज्ञान नहीं रहता। इसीलिए जीवन रूपी गाड़ी का पहिया चलता रहता है और हम इसे जिन्दगी की संज्ञा देते हैं।

संसार के सभी प्राणी जीवन और मृत्यु के वश में हैं—न जीवन धारण करने पर उनका वश है, न मृत्यु को रोकने में। लेकिन अवतारी पुरुषों के साथ यह सिद्धांत लागू नहीं होता। जीवन और मृत्यु दोनों पर उनका समान अधिकार होता है। जब महाप्रभु ने अपने जीवन के कार्यों पर दृष्टिपात किया, तब उन्हें परम संतोष हुआ और उन्हें ऐसा लगा, जैसे इस भू-लोक पर जिस कारण उनका अवतरण हुआ था, वह पूर्ण हो गया है और यहाँ से अब चलना चाहिए। यह विचार आते ही उन्होंने संन्यास ग्रहण करने का निश्चय किया था।

संन्यास ग्रहण करने के कुछ ही दिनों पश्चात् भगवान् ने प्रकट होकर उनसे कहा—"आपने जिस उद्देश्य से यह अंशावतार ग्रहण किया था, उसकी पूर्ति हो गई। श्री महाभागवत सम्प्रदाय के प्रचार-प्रसार से जन मानस धार्मिक कार्यों में रुचि ले रहा है और धर्म-अधर्म की परिभाषा समझने में सक्षम हो गया है। अब आप अपने लोक में चलें।" इसका आभास तो उन्हें पहले से ही हो रहा था। अब भगवान् की इस स्पष्ट आज्ञा को शिरोधार्य करके उन्होंने शरीर त्याग की तैयारी कर ली।

संन्यास ग्रहण करने के कुछ पूर्व से उनके दिव्य मुख-मण्डल पर आश्चर्य-पूर्ण शान्ति छा रही थी। वे बोलते कम थे, और अपना कार्यभार दूसरों को सौंपते जा रहे थे। इससे उनके प्रेमियों के मन में तरह-तरह की आशंका पैदा हो रही थी। उनकी आशंका निर्मूल प्रमाणित नहीं हुई। महाप्रभु ने संन्यास ग्रहण करने की घोषणा की।

महाप्रभु की यह स्थिति जानकर उनके बहुत शिष्य उनके साथ ही रहने लगे थे। काशी में गंगा का पवित्र तट। नीचे धरती और ऊपर आकाश। उनके बड़े पुत्र गोपीनाथ जी भी अपने पूज्य पिता की सेवा में आ गये थे। धीरे-धीरे महाप्रभु सभी बन्धनों से मुक्त होते जा रहे थे। वे बहुत कम बोलते और सदा भगवान् का स्मरण करते रहते। अन्त में उन्होंने शरीर के सब वस्त्रों को त्याग कर दिया। केवल एक कौपीन शरीर पर शेष रह गया था।

अपने बहुत से शिष्यों और गृहस्थ प्रेमियों को अपनी ओर निर्निमेष दृष्टि से देखते हुए उनकी आकांक्षा को समझ कर महाप्रभु ने अपना अन्तिम उपदेश देते हुए कहा—"शिष्यों ! मैं भगवान् श्रीकृष्ण की आज्ञा से इस पृथ्वी पर आया था और अब उन्हीं की अनुज्ञा से उनको नित्य लीला में प्रविष्ट होने वाला हूँ। भगवान् की ही आज्ञा से मैंने भक्ति मार्ग का प्रसार किया। क्योंकि इस विषय वासना से पूर्ण संसार में भक्ति का ही एकमात्र मार्ग ऐसा है, जो इस लोक की सम्पूर्ण कामनाओं को पूर्ण कर, परलोक में सद्गति का मार्ग प्रशस्त करता है। इसलिए भक्ति का मार्ग कभी भी मत छोड़ना। मनुष्य अपने पूर्व जन्म के कर्मों के भी अधीन होता है और उनके अनुसार सुख-दुख उसे भोगने पड़ते हैं। पूर्वजन्म के कृत्यों के परिणाम स्वरूप दुखों से घबड़ाकर, यदि हम भगवान् को दोष देने लगें, तो यह अज्ञान की बात होगी। वस्तुतः भक्ति को माता के समान मानकर सदा-सर्वदा इसमें आस्था रखनी चाहिए।"

कुछ क्षण चुप रहने के पश्चात् उन्होंने फिर कहना प्रारम्भ किया—"अपने जीवन को सफल बनाने के लिए भगवान् श्रीकृष्ण को भक्ति से अधिक सरल दूसरा कोई मार्ग नहीं है। कलियुग में नाना प्रकार की उलझनों में उलझे होने के कारण व्यक्ति के पास धार्मिक कार्यों के लिए समय निकाल पाना कठिन है। ज्ञान की ऊँची-ऊँची बात अधिकांश लोग समझ नहीं सकते। ऐसी स्थिति में भक्ति का ही एक सहारा बचता है। अपने मन और वाणी को शुद्ध करके मनुष्य को अत्यन्त विनयावनत होकर अपने को भगवान की शरण में ले जाना चाहिए। व्यक्तिगत सुख-दुख की ओर से उदासीन होकर सदा दूसरों के कल्याण की चिन्ता करनी चाहिए। क्योंकि दूसरों का कल्याण भगवान् की श्रेष्ठ भक्ति का माध्यम है। स्वार्थ त्याग और अतिथि सत्कार से भी भगवान् प्रसन्न होते हैं। किसी के अहित की इच्छा को मन में कभी मत आने दीजिए। इससे मन की पवित्रता चली जाती है और मन पाप की ओर जाता है। इसलिए मैं आपसे कहूँगा कि आप सदा भगवान् का स्मरण करते रहें और अपने सुख-दुख की चिन्ता छोड़कर अपने पड़ोसियों, अपने मित्रों आदि को सुखी बनाने की कोशिश करते रहिए। समाज सेवा से भगवान् प्रसन्न होते हैं। यदि आप भगवान् के इन कार्यों में लगे रहेंगे, तो वे प्रसन्न होकर स्वयं कल्पवृक्ष के समान आपके मनोरथ पूर्ण करेंगे—आपको सुखी रहने का अक्षय वरदान देंगे।"

इतना उपदेश करने के बाद महाप्रभु चुप हो गये और बहुत शान्त होकर ध्यान मग्न हो गये।

इस प्रकार ध्यानमग्न होकर गंगा तट पर बैठने का उनका यह सातवां

दिन था। भगवान् भास्कर उदय हो चुके थे और धीरे-धीरे आकाश में चढ़ रहे थे। इधर महाप्रभु वल्लभाचार्य भगवद् नाम का उच्चारण करते हुए गंगा की ओर बढ़े। अपने पुत्र गोपीनाथ के लिए तट के पत्थरों पर तीन श्लोक लिखा और जल में प्रवेश कर गये। वहां उपस्थित भक्तगण यह सोच रहे थे कि महाप्रभु स्नान करने जा रहे हैं। लेकिन वे जल में प्रवेश करते रहे और फिर उसी में विलीन हो गये। वहाँ हाहाकार मच गया। कुछ क्षणों के बाद, जहाँ से महाप्रभु जल में प्रविष्ट हुए थे, वहीं से एक ज्योति उठी और आकाश मार्ग में विलीन हो गई। संवत् १५८७ के आषाढ़ मास के शुक्लपक्ष की द्वितीया का वह दिन था। महाप्रभु ने तिरपन वर्ष की अवस्था में उस दिन लीला प्रवेश किया।

महाप्रभु के शिष्यों को उनके परलोकगामी होने से बड़ा कष्ट हुआ। सम्पूर्ण काशी की हिन्दू धर्मावलम्बी जनता में शोक व्याप्त गया। वल्लभाचार्य ने एक सम्प्रदाय की स्थापना की और उसको स्थायी रूप देने के लिए भक्ति का प्रचार-प्रसार किया। उनके इस भक्ति आन्दोलन का प्रभाव सम्पूर्ण देश पर पड़ा और कुछ भागों में तो वे विशेष रूप से बहुत पूज्य हो गये। इसीलिए उनके परलोक गमन की बात जब फैली, तब उन जगहों के उनके भक्त बहुत दुखी हुए।

यह बात अपने स्थान पर सत्य है कि किसी दल या सम्प्रदाय के अगुवा की मृत्यु के बाद भविष्य के कार्यक्रमों को लेकर एक प्रश्न उपस्थित हो जाता है। गतिरोध भी पैदा होने लगते हैं। लेकिन यदि अगुवा दूरदर्शी होता है तो अपने जीवन काल में ही ऐसा कुछ कर जाता है, जिससे गतिरोध अथवा निराशा वाली स्थिति ही न आवे। महाप्रभु भगवान के अंशावतार थे। उनकी दिव्य दृष्टि थी। अतः उन्होंने श्रीभागवत सम्प्रदाय की केवल स्थापना ही नहीं की, वरन् उसे स्थायित्व भी प्रदान किया। उनके जीवन काल में ही उनकी प्रेरणा से अनेक मन्दिरों का निर्माण हुआ और विधिवत रूप से उनमें भगवान् को प्रतिष्ठित करके पूजा की व्यवस्था हुई।

साथ ही श्रीकृष्ण प्रेमी, परोपकारी एवं निस्वार्थ हजारों ऐसे लोगों को भी उन्होंने दीक्षित किया था, जो सच्चे रूप में साधु थे। महाप्रभु के परलोकगामी होने पर इन लोगों ने बड़ी तत्परतापूर्वक उन आदर्शों को भक्त जनता के सामने पुनः प्रस्तुत किया। इसका परिणाम यह हुआ कि उनके न रहने पर भी, उनके सिद्धान्त और आदर्श उनके भक्तों एवं धार्मिक जनता के पथ आलोकित करते रहे।

●

भक्ति-धारा

भारतवर्ष भक्ति परायण देश है। अनन्त काल से हम भक्ति के विचार की कथा विभिन्न प्रकार से सुनते आये हैं। महाप्रभु वल्लभाचार्य ने भक्ति भावना का प्रचार प्रथम बार प्रारम्भ किया हो, ऐसी बात नहीं थी। उनके पूर्व अनेक अंशावतार हो चुके थे, ऋषि-मुनियों का आविर्भाव हुआ था और इन सबका जन्म किसी न किसी उद्देश्य से ही हुआ था। हमने रामायण और गीता में पढ़ा भी है कि जब धार्मिक प्रवृत्तियाँ कमजोर होने लगती हैं, असुर शक्तियों का प्राबल्य बढ़ने लगता है, तब साधु जनों की पीड़ा और दुःख दूर करने तथा समाज में व्यवस्था स्थापित करने के लिए भगवान इस धरती पर जन्म लेते हैं। गोस्वामी तुलसीदास जी ने रामचरित मानस में इसे यों लिखा है—

जब जब होइ धरम की हानी,
बाढ़हि असुर अधम अभिमानी।
तब तब प्रभु धरि विविध शरीरा,
हरहिं कृपानिधि सज्जन पीरा।

कुरुक्षेत्र के धर्म युद्ध में भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को सम्बोधित करते हुए कहा था—"जब धर्म का ह्रास होने लगता है और असुर, अधम एवं अभिमानी लोग सज्जनों को पीड़ा पहुँचाने लगते हैं, तब मैं उनके कष्टों के निवारण हेतु, मनुष्य रूप में पृथ्वी पर अवतरित होता हूँ।" ईश्वर का पूर्ण अवतार हो अथवा अंशावतार, उद्देश्य प्रायः एक ही होता है। कार्य कला में अन्तर सम्भव है।

जहाँ तक इतिहास हमारी दृष्टि को ले जाता है, वहाँ तक की सम्पूर्ण विचारधाराओं एवं स्थितियों के सिहांवलोकन से ऐसा ज्ञात होता है कि धार्मिक नेताओं का प्रादुर्भाव अकस्मात् नहीं, वरन् सुनियोजित रूप से भगवत् इच्छा से होता है। और इस प्रकार से जितने अवतार हुये हैं, उन सबने अपने समय की स्थिति के अनुसार धार्मिक कार्य किये हैं, तथा धर्म की मर्यादायें स्थापित की हैं। भगवान राम एवं श्रीकृष्ण का जीवन आदर्श और मर्यादा से परिपूर्ण है। ये पूर्णरूपेण अवतारी थे। इन्होंने किसी विशेष सम्प्रदाय अथवा भक्ति मार्ग की स्थापना नहीं की। लेकिन जो अंशावतार हुए हैं, अथवा जो मनुष्यों में

देवता हुए हैं, उन सबका आविर्भाव प्रयोजनपूर्ण हुआ है और उनमें से अधिकांश ने अपने-अपने रूप में भगवान की स्थिति, पूजा एवं अर्चना की विधि निश्चित की है। उदाहरण के लिए महावीर, महात्मा बुद्ध, शंकराचार्य, रामानुजाचार्य, और वल्लभाचार्य जैसी विभूतियों के जीवन चरित्र हमारे समक्ष हैं।

शंकराचार्य का जन्म आठवीं शताब्दी में हुआ था। उनके जन्म से लगभग तेरह सौ वर्ष पूर्व महात्मा महावीर और बुद्ध भगवान का जन्म हो चुका था। महावीर ने संन्यासी होकर जैन धर्म को प्रसारित किया और चन्द्रगुप्त मौर्य के शासन काल में यह धर्म सम्पूर्ण साम्राज्य में प्रतिष्ठित रहा। किन्तु उनके पोते सम्राट अशोक द्वारा बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिये जाने के कारण, जैन धर्म लुप्त प्राय हो गया और बौद्ध धर्म साम्राज्य भर में प्रतिष्ठित हो गया। सम्राट अशोक ने इस धर्म को दूसरे देशों में भी पहुँचाया। इसे विडम्बना ही माना जायेगा कि भगवान् बुद्ध द्वारा स्थापित बौद्ध धर्म जिस भारत भूमि में पैदा हुआ, वहाँ अब मृतप्राय हो चुका है, किन्तु एशिया महाद्वीप के कुछ दूसरे देशों में अब भी लोकमर्यादित और सर्वमान्य है।

जैन धर्म बहुत काल तक न चल सका। जब तक राजाश्रय प्राप्त रहा, तभी तक उसका बोलबाला रहा। बुद्ध धर्म के उदय के साथ जैन धर्म का पराभव प्रारम्भ हो गया। बुद्ध धर्म लगभग सौ वर्षों तक प्रभावकारी रूप में इस देश में सफलता पूर्वक चला। किन्तु बुद्ध भिक्षुओं में विलासिता की प्रवृत्ति आ जाने एवं बुद्ध बिहारों में अनेकानेक दोष उत्पन्न हो जाने से, जनता की श्रद्धा इससे दूर होती गई। बुद्ध धर्म के इसी अवनति काल में शंकराचार्य का प्रादुर्भाव हुआ और उनके मर्यादित जीवन तथा वाणी एवं विचार की पवित्रता ने जन मानस को बेहद तेजी से उनकी ओर आकृष्ट किया और सम्पूर्ण देश में शंकराचार्य द्वारा स्थापित मत बहुमत में हो गया।

महात्मा बुद्ध के प्रभावोत्पादक एवं हृदयग्राही विचारों से प्रभावित होकर पुरुषों की तरह महिलाओं ने भी जब "संघ शरणम् गच्छामि" की इच्छा व्यक्त की, तो भगवान् बुद्ध ने मनाही कर दी थी। लेकिन कुछ समय बाद अपने प्रधान शिष्य आनन्द के बार-बार के इस प्रस्ताव से कि महिलाओं को भी संघ में प्रवेश की अनुमति दी जानी चाहिए, भगवान बुद्ध ने अनिच्छा से इसे स्वीकार कर लिया। वे अपने इस निर्णय से प्रसन्न नहीं थे। उन्होंने बहुत दुखी स्वर में कहा था—"आनन्द, तुम्हारे बार-बार के आग्रह को स्वीकार करके मैंने महि-

लाओं को संघ में प्रवेश की अनुमति तो दे दी, लेकिन इसका परिणाम अच्छा नहीं होगा। अब इस सम्प्रदाय की आयु आधी रह गई।"

भगवान बुद्ध महिलाओं के विरोधी नहीं थे। स्वयं वैशाली में नगरबधू अम्बपाली का आतिथ्य स्वीकार कर चुके थे। महिलाओं के प्रति वे श्रद्धावान और दयालु थे। किन्तु वे जानते थे कि युगों से स्त्री पुरुष के खिचाव की केन्द्र बिन्दु रही है। मर्यादित रूप से यह खिचाव तो सृष्टि का कारण बनता है, किन्तु जहाँ स्त्री-पुरुष सम्बन्ध मर्यादित नहीं होते, वहाँ दुश्चरित्रता फैलती है और लोकमर्यादा भग होती है। भगवान बुद्ध आने वाली इस स्थिति से पूर्व परिचित थे। वे जानते थे कि अधिकांश भिक्षु बौद्ध विहारों में भिक्षुणियों के साथ रहते हुए लोकमर्यादा की रक्षा न कर सकेंगे और यह धर्म सर्वसाधारण की दृष्टि से गिर जायेगा। कालान्तर में यही हुआ। भिक्षु-भिक्षुणियों के सम्बन्ध चर्चा के विषय बन गये और जनता के बीच उनकी प्रतिष्ठा गिरने लगी।

शंकराचार्य के प्रादुर्भाव तक बुद्ध विहारों की स्थिति बहुत शोचनीय हो चुकी थी। शंकराचार्य ने बौद्धों पर सैद्धान्तिक और उनकी तात्कालिक स्थिति, दोनों दृष्टियों से प्रहार किया। वे मेधावी, प्रतिभावान और सच्चे संकल्प के महापुरुष थे। उनमें अदम्य उत्साह और अद्भुत लगन थी। उनके सामने पतनोन्मुखी बौद्ध भिक्षु और उनके मत नदी के किनारे के पेड़ की तरह प्रमाणित हुए।

लेकिन शंकराचार्य के बाद जब रामानुजाचार्य आये, तो उन्होंने शंकर सिद्धान्तों का खंडन किया। उन्होंने "ब्रह्म" सम्बन्धी शंकर के सिद्धान्त से विशेष रूप से अपनी असहमति प्रकट की और इसके स्थान पर अपनी व्याख्या प्रस्तुत की। मूल सिद्धान्त से मतभेद होने के कारण रामानुजाचार्य का शंकराचार्य के सिद्धांतों से मतभेद का क्षेत्र काफी विस्तृत हो गया था। लेकिन इससे विद्वत् समाज को बहुत कुछ सोचने समझने का अवसर मिला। धार्मिक आन्दोलन जीवन्त हो उठा। एक विशेष विचारधारा ने जन्म लिया। शंकर और रामानुज, दोनों सिद्धान्तों के मानने वाले आचार्यों ने, अलग-अलग अपनी व्याख्यायें प्रस्तुत कीं और निर्णय पंडित समाज पर छोड़ दिया गया।

इस प्रकार धार्मिक आन्दोलन या विचारों ने स्वस्थ परम्परा को जन्म दिया। इसके बाद महाप्रभु वल्लभाचार्य का समय आया। उन्होंने श्रीमद्-भागवत चरित को अपना आधार बनाया और उसमें निहित भक्ति सिद्धान्त को प्रचारित प्रसारित किया। उनके सिद्धान्तों को पुष्टि मार्ग के नाम से जाना जाता है।

महाप्रभु जहाँ भी जाते थे, श्रीमद्‌भागवत का पाठ करते और श्रीकृष्ण महिमा से लोगों को अवगत कराते थे। वल्लभाचार्य ने कई बार समूचे देश का भ्रमण किया और श्रीकृष्ण भक्ति का उपदेश दिया। उन्होंने अद्वैत-द्वैत मत-मतान्तरों से सदा अपने अनुयायियों को दूर रखा और एकमात्र भक्ति का आश्रय ग्रहण करने का उपदेश किया। वास्तव में कलियुग में इससे उत्तम और सरल मार्ग भी कोई अन्य नहीं है। जब प्रेम और श्रद्धा से ईश्वर का नाम ले लेने मात्र से मनुष्य को सद्‌गति मिल सकती है, तो फिर अनेक मत-मतान्तरों में अपने को क्यों उलझाया जाय। गोस्वामी तुलसीदास जी ने लिखा है—

भायं कुभायँ अनख आलसहूँ,
नाम जपत मंगल दिसि दसहूँ।

वास्तव में वल्लभाचार्य और गोस्वामी जी के विचारों में एकदम समता है। गोस्वामी जी राम के उपासक थे और वल्लभाचार्य कृष्ण के। अलग-अलग नामों से यह एक ही ईश्वर की उपासना है। इन दोनों महापुरुषों में अगाध श्रद्धा-भक्ति थी। अपनी विचारधारा को साकार एवं स्थायी रूप देने के लिए वल्लभाचार्य ने मन्दिरों का निर्माण करवाया एवं उनमें मूर्तियों की स्थापना की।

शंकराचार्य ने जब विलासी बौद्ध भिक्षुओं के आचरण पर प्रहार करना प्रारम्भ किया, तो वे क्रुद्ध हुए और कहीं-कहीं शारीरिक बल प्रयोग की भी स्थिति आई थी। जब रामानुजाचार्य का आविर्भाव हुआ, तो उन्होंने शंकराचार्य द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों की कड़ी आलोचना की। इससे धार्मिक वातावरण में एक प्रकार का तनाव बना रहा और आलोचना-प्रत्यालोचनायें होती रहीं।

जिस प्रकार बादलों के हट जाने से आसमान स्वच्छ और स्निग्ध हो जाता है, महाप्रभु वल्लभाचार्य द्वारा प्रतिपादित भागवत सम्प्रदाय के प्रचार-प्रसार से धार्मिक जगत् का वातावरण शान्त और मधुर हो गया। शताब्दियों से चलती आई, कटुता का वातावरण भक्ति की पवित्र धारा में धुलकर स्निग्ध हो उठा और विभिन्न हिन्दू मतावलम्बी एक मंच पर एक साथ बैठकर विचार-विमर्श करने में सफल हुए। वल्लभाचार्य ने अपने जीवन में अनेक महान् कार्य किये, किन्तु उनकी यह एक ही उपलब्धि, कई कार्यों से भी कहीं अधिक गुरुतर है।

किसी वस्तु का निर्माण करना बहुत कठिन होता है, लेकिन उसका विनाश सहज। धर्म और मत के नाम पर शताब्दियों से जो मतभेद चला आ रहा था, उस खाई को पाटकर वल्लभाचार्य जी ने भक्ति और प्रेम के मार्ग का निर्माण किया एवं इसे स्थायित्व प्रदान किया। इसके लिए उन्हें आजीवन सतत प्रयत्नशील रहना पड़ा। उन्हें सफलता मिली। आज सम्पूर्ण ब्रजमण्डल एवं गुजरात प्रदेश महाप्रभु का अनुयायी है। इसके अतिरिक्त देश के दूसरे भागों में लाखों की संख्या में लोग उनके मत को मानने वाले हैं। महाप्रभु वल्लभाचार्य की विचारधारा आदर्श, प्रेम और भक्तिपूर्ण आचरण पर आधारित हैं। इसलिए जीवन को सहज रूप से स्वीकार करने वाले भागवत धर्म के प्रति आस्थावान भक्तों, विद्वानों एवं आचार्यों की मान्यता और उनकी अडिग धारणा है कि वल्लभाचार्य द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों एवं मान्यताओं से ही मानव समाज का कल्याण होगा।

[illegible]